विजनवती

इलाचन्द्र जोशी

प्रकाशक

ज्ञानपाल सेठिया

अर्चना मन्दिर

बीकानेर

दो रुपया

प्रकाशक
ज्ञानपाल सेठिया
अर्चना मन्दिर
बीकानेर

मुद्रक
महेन्द्रनाथ पाण्डेय
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

निवेदन

मेरी 'विजनवती' यद्यपि अभी केवल दशवर्षीया कुमारी है, तथापि वह ऐसी अनुभूतिप्रवण है कि इस सुकुमार अवस्थामें भी वह आवश्यकतासे अधिक सङ्कोचशील जान पड़ती है और अत्यन्त शङ्कित तथा कम्पित पगोंसे काव्य-साहित्यके प्राङ्गणमें आई है।

वर्तमान संग्रहकी कविताएँ विभिन्न पत्रिकाओंमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस संग्रहके प्रकाशनके सम्बन्धमें मुझे विशेषरूपसे दो व्यक्तियोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनी है। इनमेंसे प्रथम व्यक्ति हैं मेरे नवयुवक मित्र, प्रियवर श्री ज्ञानपाल सेठिया, जिनकी मार्मिक अनुभूति तथा अद्भुत काव्य-रसज्ञता मुझे बरबस अपनी ओर खींच ले गई और जिनकी सहृदय सहानुभूतिसे प्रेरित होकर ही मैं अपनी बिखरी हुई कविताओंको पुस्तकके रूपमें निकालनेके लिये तत्पर हो सका। द्वितीय व्यक्ति हैं, हमारे साहित्यकी सर्वश्रेष्ठ कवयित्री और ख्यातिप्राप्त चित्रकर्त्री श्रीमती महादेवी वर्मा, जिन्होंने 'विजनवती'के आवरण-पृष्ठके लिये चित्र बनानेका कष्ट करके मुझे परम अनुगृहीत किया है।

प्रयाग
२९ मार्च, १९३७

इलाचन्द्र जोशी

भूमिका

इधर दस बारह वर्षोंके भीतर हिन्दी काव्य-जगत्में जो युगान्तर हुआ है उसके प्रबल तरङ्गाभिघातसे हमारी साहित्य धाराकी प्रगति ही एकदम बदल गई है। गोस्वामी तुलसीदासने हिन्दी-संसारमे प्रथम बार क्रान्ति उत्पन्न की थी। उनके बाद बीच का दीर्घ तीन सौ वर्षव्यापी काल कृत्रिम काव्य-कलाकी कौतुक-क्रीडा-जनित विफल विस्फूर्जन तथा व्यर्थ आस्फालन का युग रहा है। इस निर्मम कृत्रिमता के प्रति वास्तविक कवि-हृदयका विद्रोह दीर्घ कालसे अन्तरिक्षमें सञ्चित होता चला आता था। वर्तमान युगमें नाना बाह्य सङ्घर्षणों तथा अन्तरावेगोंके कारण वह शत शत धाराओमें उच्छ्वसित होकर निर्मुक्त वेगसे, अविराम गतिसे फूट निकला है। हिन्दी-साहित्यमें यह द्वितीय बार वास्तविक क्रान्तिकी लहर उमड पडी है। विरोधियों ने इस परिपूर्ण प्लावन की गति को सतत अवरुद्ध करनेकी चेष्टामें कोई बात उठा नहीं रखी, पर इस अदम्य सत्यकी प्रचण्ड संघूर्णन शक्तिका प्रतिरोध करनेमें वे किसी प्रकार भी समर्थ न हो सके। सत्यमेव जयते नानृतम्। छायावादी कविगण अपनी अन्तरात्माकी वास्तविक वेदना लेकर आविर्भूत हुए थे, इसलिये उनकी विजय अनिवार्य थी। आज उनके विरोधियों को भी उनके आगे नतमस्तक होना पड़ा है।

वर्तमान 'छायावादी' युगमें हिन्दीका Romantic युग प्रारम्भ हुआ है। Romanticism क्योंकर हिन्दीमें 'छायावाद' के नामसे प्रचलित हो गया, इस रहस्य का उद्घाटन करने का काम मेरा नहीं है। तथापि इस सम्बन्धमें मेरी जो कुछ धारणा है, उसे मैं थोड़े शब्दों में व्यक्त कर देना चाहता हूँ। 'छायावादी' कविताओं के प्रचलनके पहले हिन्दीमें दो प्रकारकी कविताएँ छपा करती थीं। एक तो नायकनायिका भेद प्रदर्शन तथा नख सिख-वर्णनकी पुरानी पद्धतिके अंध अनुकरण में लिखी गयी कविताएँ, और दूसरी कोरी वर्णनात्मक कविताएँ। इनमें प्रथम प्रकार की कविताएँ तो झूठी कविताओंकी भी जूठन होती थी और उनमें न प्राणों की कोई वेदना और न किसी प्रकारका जीवन-संवेग ही रहता था। दूसरे प्रकार की 'कविताएँ' बच्चों के खेलवाडकी कोरी तुकबन्दियोंके अलावा कुछ

भी नही थी। इन द्वितीय प्रकारकी 'कविताओं'में जो कविताएँ सर्वोच्च कोटिकी समझी जाती थी उनके उत्कर्षका पता पाठकोंको निम्न पंक्तियोंसे भली भाँति लग जायगा—

उठो भाइयो! नींदको छोड दो!
जगो, जाल आलस्यका तोड दो!
मिटे सबदाको अविद्या निशा।
प्रभापूर्ण हो जाय प्राची दिशा॥

पाठक मेरी बातपर विश्वास करें चाहे न करें, पर ये पंक्तियाँ उस समय सर्वसम्मतिमें सर्वश्रेष्ठ माने जाने वाले और वस्तुत माननीय कवि महोदयकी तत्कालीन सर्वोत्तम कविताओंमेंसे एकके प्रारम्भ की हैं। तात्पर्य यह कि हिन्दी-संसारके साहित्य रसिकगण इसी प्रकारकी 'प्रसादगुण'-समन्वित, सुस्पष्ट कविताके स्वच्छ सरोवरमें विहार करनेके आदी हो गये थे। इस प्रकारके पद्योंमें तुकोंका धारा-प्रवाह अच्छा रहता था, जो उस युगके अल्प-संस्कृत पाठकोंके मनोंमें गुदगुदी-सी पैदा करता था, और उनका अर्थ समझनेके लिये उन्हें माथा खपानेकी कोई आवश्यकता ही नही रहती थी। (और हिन्दी-संसारमें इस समय भी ऐसे साहित्यिकोंकी कमी नही है जो इसी एक गुणको किसी कविताका सर्वश्रेष्ठ गुण समझते है)। अतएव जब उनके सम्मुख अन्तरात्माकी वास्तविक तथा निगूढ वेदना से प्रसूत कविताएँ नये रूपमें तथा नये आकारमें आने लगी तो वे उन्हें विचित्र, रहस्य-पूर्ण, अस्पष्ट तथा छायात्मक प्रतीत हुईं। अचानक इस प्रकारकी कविताओंकी बाढ-सी आते देख वे घबरा उठे और इस घबराहटमें उन्हें कुछ सूझ न पडा कि इस श्रेणीकी कविताओंको क्या नाम दिया जाय। कोई एक नाम देना परमावश्यक हो उठा, क्योंकि 'वास्तविक' कविताओं (अर्थात् सरल तुकबन्दियों) को इन 'अवास्तविक' तथा 'अर्थहीन' कविताओंकी बाढसे बचाने, उनके संसर्गसे सुरक्षित रखनेके लिये ऐसा करना जरूरी समझा गया। फलस्वरूप नये ढंगकी कविताका नाम पडा 'छायावादी कविता' और इस श्रेणीकी कविताकी भावधारा का नाम पडा 'छायावाद।' यह नाम यद्यपि पीछे स्वयं छायावादी कवियोंने प्रशंसात्मक दृष्टिमें स्वीकृत कर लिया, पर वास्तवमें यह नयी शैली की कविताके विरोधियों द्वारा घृणात्मक दृष्टिसे रखा गया नाम है। 'छायावादी' शब्दसे उन लोगोंका तात्पर्य यह जताने का था कि नवीन कवियोंकी कवितामें भावोंकी वास्तविकता नही, बल्कि उसकी छायामात्र रहती है।

वर्तमान समयमें 'छायावाद' बहुत विस्तृत तथा अनिश्चित अर्थमें व्यवहृत होता है। कोई कविता चाहे Romantic हो, चाहे Mystic, चाहे Lyric, वह 'छायावादी' ही कही जायगी। इसमें सन्देह नहीं कि उच्चकोटिकी 'रोमाण्टिक' कवितामें ममवाद (Mysticism—जो हिन्दीमें 'रहस्यवाद' के नामसे प्रसिद्ध हुआ है) की पुट किसी-न किसी अंशमें रहना अनिवार्य है, तथापि इस समय विशुद्ध 'रहस्यवादी' कविताके दो तीन ही आचार्य हैं, जिनमें श्री 'प्रसाद', श्रीमती महादेवी वर्मा तथा श्री रामकुमार वर्माका नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। पन्तजीके 'पल्लव'में विशुद्ध 'रोमाण्टिक' रस छलकता है, पर 'गुञ्जन' में उनका खिंचाव 'रहस्यवाद' की ओर अधिक जान पड़ता है। निरालाजीने भी 'छायावाद' तथा 'रहस्यवाद' दोनोंको पूर्ण सफलतासे अपनाया है, पर कहीं कहीं वह इन दोनों वादोंसे बहुत आगे बढ़ गये हैं और आजकल उन्होंने अपनी गहन भावमयी कविताओं द्वारा अच्छी धाक हिन्दी साहित्यमें जमा रखी है। कुछ भी हो, मेरा तात्पर्य यह है कि पुराणपंथियोंने यद्यपि नयी शैलीकी कविताके विरोधमें कोई कोर-कसर नहीं रखी, तथापि वे अपनी चेष्टामें सर्वथा असफल रहे और अन्तमें 'छायावाद' की मायाका ऐसा सिक्का जनतापर जमा कि स्वयं पुराणपंथी कवि भी अन्यथा गति न देखकर उसी शैलीको अपनानेके लिए बाध्य हुए। निरालाजीकी कविताके निरालेपनने और पन्तजीकी कान्त कविताके ललित लावण्य विलासने काव्य रसिकोंका दृष्टि-कोण प्रसारित कर दिया, और काव्य-सागरके किनारे उसके छिछले जलमें क्रीड़ा करके सन्तुष्ट रहनेवाले हिन्दीके आलसी शिशुओंको उसके गम्भीर भावों तथा अगाध रसके अगम अतलमें डुबोकर ही छोड़ा। और अब इस रस-सागरमें "अनबूड़े बूड़े, तिरे, जे बूड़े सब अङ्ग।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हिन्दीकी नवीन शैलीकी कविताओंका 'छायावादी' नाम एक प्रकारसे सार्थक ही है। भले ही यह नामकरण किसी दूसरी दृष्टिसे हुआ हो, पर यह निश्चित है कि नयी शैलीकी प्रायः सभी कविताएँ 'छायात्मक' होती हैं। इस व्यक्त जगत्‌के परे जो एक अदृश्य छाया प्रतिपल अपना झिलमिल रूप दिखाती रहती है उसने हिन्दीके प्रायः सभी कवियोंको अपने अलौकिक रहस्यकी मनोमोहकताके कारण प्रबल वेगसे आकर्षित किया है। यह छाया क्या है? यह कोई भी नहीं बता सकता। यह अव्यक्त, अज्ञात तथा रहस्यमय है और चिरकाल ऐसी ही रहेगी। यही एक कारण है कि इसका आकर्षण भी कवियोंके लिये इतना अधिक प्रवेगशाली है। वेदान्तिक इसे निर्गुण, निरूप तथा अव्यक्त

ब्रह्म कह सकते है, जिसे उपनिषदोने सब रसोका मूल माना है—"रसो वै स" (वही रस है) ऐसा कहा है, साख्यमतवाले उसे मूल प्रकृति कह सकते है, जो अपनी मायामयी छायाकी नाना रूप रङ्ग-समन्वित अभिव्यञ्जनासे निखिल पुरुषात्माको विमोहित किये हुए है, जडवादी उसे कवियाका मिथ्या भ्रम तथा आत्मवञ्चक स्वप्नोकी निरर्थक कल्पना कह सकते है। पर यथार्थ कवि तत्त्ववादी नही होता, इसलिये इस प्रकारके तात्त्विक विवेचनोमेंसे किसीको भी वह अधिक महत्त्व नही देना चाहता। इस 'छाया'के आविर्भावका मूल कारण चाहे कहीपर हो, वह चाहे उसीकी मानस प्रसूत आत्म वञ्चनामयी माया ही क्यो न हो, वह उसे निरन्तर अपनी नव नव रहस्यमयी झलकोंसे, अपनी अज्ञात आवेशमयी, पुलक-हिल्लोलमयी, प्रतिपल आन्दोलित पलको से, निखिलको विजडित करने वाली, विश्व विसर्पित मनोहारी अलकोंसे विमुग्ध करती रहती है, तथापि स्वय अपरिचित तथा अज्ञात ही रह जाती है। केवल यही तथ्य उसकी अन्तरात्मामें रस-स्रोत उद्वेलित करनेके लिये पर्याप्त है। ब्रह्म अथवा माया, सत्य अथवा मिथ्याके झगडेमें पडनेकी न तो उसमें विशेष प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती है, न वह इस बात का निबटारा ही किसीसे कराना चाहता है। वह जानता है कि वह 'छाया' चाहे मिथ्या माया हो, चाहे कविका भ्रामक स्वप्न, पर उसके लिये तो वह चरम तथा परम सत्यके रूपमें क्षण क्षणमें परिलक्षित होती रहती है। इसका यह अर्थ नही कि वह इस चिर विचित्र मयी छायाका अन्तर्भेद करने, उसके मूल रहस्यसे परिचित होनेकी इच्छा नही रखता। वह अवश्य उसकी निगूढताका अन्तपट खोलना चाहता है, पर अपनी ही अनुभूतिसे, न कि किसी तात्त्विकके सिखलाये हुए ज्ञानके बल पर। हालमें (नवम्बर १९३६ के 'चादमें') पन्तजीकी 'छाया' शीर्षक एक सुन्दर कविता प्रकाशित हुई है जिसमें कविकी इस चिर-सहचरी, आजीवन परिचिता तथापि चिर-अज्ञाता छायाके मर्मोद्घाटनकी वेदना बडे अच्छे ढँगसे व्यक्त हुई है। उसके कुछ अशाको उद्धृत करनेका लोभ मै यहा सँभाल नही सकता—

खोलो मुखसे घूघट खोलो!
हे चिर अवगुण्ठनमयि, बोलो!
क्या तुम केवल चिर अवगुण्ठन?
अथवा भीतर जीवन-कम्पन?

× × ×

पटपर पट, केवल अधकार,
पटपर पट खुले, न मिला पार !
सखि! हटा अपरिचय-अधकार,
खोलो रहस्यके ममद्वार !

× × ×

म हार गया तह छील छील,
आँखोसे प्रिय छवि लील-लील,
म हूँ या तुम, यह कसा छल !
या हम दोनो, दोनोके बल ?

स्पष्ट है कि कवि 'छाया'की भ्रामरी मायाके चक्करमें पडकर विचित्र उलझन-में ह। वह जानता है कि इस रहस्यमयी कुहकिनीके रहस्यका पता पाना असम्भव ही ह, तथापि उसके लीला-वचित्र्यने उसे इस प्रकार भुला रखा है कि यह सन्देह होते हुए भी कि कही वह झूठी माया तो नही है, वह उसका सङ्ग त्याग करनेकी तनिक भी इच्छा नही रखता और नाना विरोधी कारण होते हुए भी उसकी अन्तरात्मा उसी छायाको एकमात्र सत्य मानना चाहती है।

केवल हमारे छायावादी कवि ही नही, ससारके बहुतसे श्रेष्ठ कवियोको प्रकृतिकी छायात्मिका मोहिनीने लुभाया ह, और यद्यपि वे लोग इस बातका निणय न कर सके कि वह स्वप्न है या सत्य, तथापि उसकी बहुरङ्गी लीलामें वे उन्मुक्त आत्मासे सम्मिलित हुए ह और इसीमें उन्होने अपने अन्तरकी रसाकाङ्क्षिणी प्रवृत्तिकी चरम साथकता मानी ह। कालिदासको मेघदूत'-रचनाकी प्रेरणा तभी प्राप्त हुई थी जब वे इस छायाकी मायाके भुलावेमें आये थे, अन्यथा उनमें कभी चित्रकूट-पवतमें यक्षको खडा करके उसस छायात्मक मेघ द्वारा अपनी विरहिणी प्रियाको सन्देश पठाने के बहाने छायाकी नव-नव रूपमयी लीलाओकी विचित्रताका रस स्वय पान करने तथा दूसराको पान करानेकी आकाक्षा जागरित न हो पाती। रवीन्द्रनाथको इस छायात्मिका मायाने नाना रूपोसे भुलाया है, जिनका मनोहर वणन उन्होने अपनी विभिन्न कविताओमें किया ह। इस 'छाया'का लीलावचित्र्य देखकर उन्होने उसे 'चित्रा' नाम दिया ह। अपनी 'चित्रा' शीषक प्रसिद्ध कवितामें वह इसी 'छाया'के सम्बन्धमें लिखते हैं—

जगतेर माझे कत विचित्र तुमि हे
तुम विचित्ररूपिणी !
अयुत आलोके झलसिछो नील गगने,
आकुल पुलके उलसिछो फूल-कानने,
द्युलोके भूलोके विलसिछो चल-चरणे,
तुमि चञ्चल-गामिनी ।

अन्तर माझे शुधु तुमि एका एकाकी
तुमि अन्तरव्यापिनी !
ऐकटि स्वप्न मुग्ध सजल नयने,
ऐकटि पद्म हृदय-वृन्त-शयने,
ऐकटि चन्द्र असीम चित्त-गगने,
चारिदिके चिर-यामिनी ।

"हे विचित्ररूपिणी ! तुम जगतमें कितने विचित्र रूपोंमें विचरण कर रही हो ! नील गगनमें तुम अयुत आलोकसे प्रभासित हो रही हो, फूल-काननमें पुलकित हो रही हो, द्युलोक और भूलोकमें तुम चञ्चलगामिनी अपने चल चरणोंके विलाससे तरङ्गित हो रही हो !

"अन्तरमें तुम एकदम अकेली व्याप रही हो ! मुग्ध सजल नयनमें एक स्वप्न-के समान, हृदय-वृन्त-शयनमें एक पद्मके समान, असीम चित्त-गगनमें एक मात्र चन्द्रके समान स्थिर हो, जब कि चारो ओर चिर-यामिनी विराज रही है।"

अट्ठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियोंमें इंगलैंड तथा फ्रांसके सभी रोमाण्टिक तथा मिस्टिक कवियोंने इसी 'चित्रा' की बहुविध अर्चनामें अपना काव्य-भण्डार खाली किया है। इंगलैंडके वर्ड्सवर्थ, शेली, कीटस, ब्राउनिंग, टेनिसन आदि तथा फ्रांसमें ह्यूगो (Hugo) लामार्तिन, बोदेलेयर (Baudelaire) आदि कवि इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। जर्मनीमें गेटे (Goethe) अपने जगत्प्रसिद्ध काव्यात्मक नाटक Faust में (विशेष करके द्वितीय भागमें) इसी चित्रा-माया की छायामें पूर्णतः मग्न हुआ है और हाइने (Heine) को तो आजीवन यह छाया भूतकी मायाकी तरह प्रबल प्रवेगसे अपनी ओर आकर्षित करती रही है।

विश्व-काव्य-साहित्यमें छायाका जाल विस्तृत रूपसे फैला हुआ होनेपर भी हमारे कुछ साहित्यिक तथा अधिकांश साहित्यानुरागी पाठकगण उससे परिचित

न होने तथा परिचित होने का कष्ट उठानेकी इच्छा न रखने के कारण हिन्दीकी छायावादी कविताओको समझ नही पाते और विश्व-साहित्यका ज्ञान न होनेके कारण उन कविताओको अर्थहीन कहकर उन्हे ठुकरानेकी विफल चेष्टा करते है। 'छाया' आखिर छाया ही है। वह जब स्वय कविके लिये रहस्यमयी सिद्ध होती है तो पाठकोको वह और भी अधिक गहन रहस्यसे आवृत्त मालूम होगी, इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि 'छायावादी' कविताएँ (मेरा आशय उच्चकोटिकी छायावादी कविताओसे है) पागलके प्रलापकी तरह अर्थहीन होती है। यदि लोग चाहते है कि उनका अर्थ समझें तो उन्हे पहले विश्व-साहित्यका गहन अध्ययन करना होगा और उसके बाद आत्म-मनन द्वारा अपनी निजी अनुभूतिको विकसित करके कविकी अन्तरात्मासे समान-वेदन-जनित सम्बन्ध स्थापित करना होगा। तब जाकर वे उन कविताओका यथार्थ रस ग्रहण करने में समर्थ हो सकते है।

हिन्दीके अनेक साहित्यिक तथा साहित्य प्रेमी कवितामें अस्पष्टताको एक बहुत बडा दोष मानते है। पर यह उनकी भ्रान्त धारणा है। भाषाकी कृत्रिम जटिलता तथा शैलीकी कठोर कुटिलताके कारण जो कविता अस्पष्ट होती है वह वास्तवमें निन्दनीय है। पर बहुत सी उच्चकोटिकी कविताएँ भावोकी गहनताके कारण अस्पष्ट जान पडती है। इस श्रेणीकी कविताओकी अस्पष्टता निन्दनीय नही, बल्कि अत्यत प्रशसनीय समझी जानी चाहिये।

प्रत्येक उच्चकोटि की कविता में कवि की आत्मा की निगूढतम आकाक्षाओ का आभास स्वप्नोके रूपमें झलकता है। पर स्वप्न एक ऐसी माया है जो कभी स्पष्ट हो ही नही सकती, इस बातका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको अपने रात दिनके स्वप्नोसे हो सकता है। पर कोई भी स्वप्न प्रकटमें कैसा ही ऊटपटाग तथा अस्पष्ट क्यो न जान पडे, किन्तु वास्तवमें उसकी प्रत्येक घटना ज्वलन्त सत्यसे धडकती रहती है। यह बात Freud तथा Jung के समान मनस्तत्त्व विश्लेषकोने अच्छी तरह सिद्ध करके दिखा दी है। आज तक स्वप्नोके सबधमें जनतामें कई प्रकारकी भ्रान्त धारणाएँ पाई जाती थी। अन्ध विश्वासी लोग उन्हे भविष्यवाणियाके रूपमें ग्रहण करते है, अन्धविश्वासोको ठुकरानेवाले विज्ञानवादी उन्हे आजतक अर्थहीन मनोविकार कहकर उडा दिया करते थे। पर फ्रायड इन दोनो सिद्धान्तोको नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक स्वप्नमें हम अपने Unconscious (जिसे हम अज्ञात चेतना कह सकते है) में छिपी हुई तथा अव्यक्त अज्ञात

आकांक्षाओंकी चरितार्थताका सुख अथवा दुःख प्राप्त करते हैं—पर प्रकट तथा स्पष्ट रूपमें नहीं, अस्पष्ट तथा साङ्केतिक रूपमें। फ्रायडका कथन है कि स्वप्न कैसा ही विकृत और अर्थहीन क्यों न जान पड़े, उसकी प्रत्येक असम्बद्ध तथा असङ्गत घटना विशेष अर्थ रखती है, पर सांकेतिक रूपमें। अर्थात् प्रत्येक स्वप्न हमारी निगूढ़ आकांक्षाओंका रूपक है। उसी प्रकार एक विशेष श्रेणीकी कविताएँ ऐसी होती हैं जो कवियोंकी अन्तर्चेतनामें जागरित होने वाली अज्ञात आकांक्षाओंको स्वप्नोंके आकारमें वेष बदलकर साङ्केतिक रूपमें अपनेको व्यक्त करती हैं। कविकी अन्तरात्मा नहीं चाहती कि वह अपनी अज्ञात आकांक्षाओंको नग्न रूपमें, लज्जारहित अवस्थामें अभिव्यञ्जित करे। इसलिये वह नाना रङ्गीन आवरणों, नाना रूपकोंका सृजन करके इन्द्रजालमय बानेसे उन्हें ढककर हमारे सामने रखता है। स्मरण रहे कि इन रूपकोंका मायावी पट वह सचेत अवस्थामें, जानबूझकर तैयार नहीं करता, बल्कि उसकी अज्ञात चेतना उससे यह कार्य करवाती है। उसकी अज्ञात चेतना जानती है कि नग्नता और स्पष्टता सौंदर्यके मूल रसको नष्ट कर देती है, इस कारण उसे मनोमोहक बनानेके लिये छायामय मायाके रङ्गीन जालका आवरण निर्मित होना आवश्यक है। आजकलके जो बने हुए वस्तुतन्त्रवादी (Pseudo-realists) नग्न रूपमें चित्रित की गई यथार्थताको ही कलाकी चरम श्रेष्ठता मानते हैं, उनकी अज्ञात चेतना विकृत हो चुकी है, यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है। प्रकृतिके मूल केन्द्रमें सृष्टिकी निगूढ़ वासनामयी प्रवृत्तिके जो बीज अव्यक्तरूपमें छिपे हुए हैं वे अपनेको आकाशके तारों, पृथ्वीके पत्र पुष्पों और हरी-भरी लताओं, वर्षा, शरत्, वसन्त आदि ऋतुओंकी नव-नव हिल्लोलमयी धाराओंके रूपमें प्रस्फुटित होकर व्यक्त करते हैं—इन्हीं स्वप्नोंके रूपमें प्रकृतिकी अन्तरतम आकांक्षाएँ अभिरञ्जित होकर हमें आनन्द प्रदान करती हैं, और प्रकृतिके आभ्यन्तरिक भारको हल्का करती हैं। अर्थात् अपने अन्तर्चेतनको रूपकके रूपमें व्यक्त करनेकी प्रवृत्ति मूल प्रकृतिमें ही वर्तमान है। यदि प्रकृति अपनेको इस प्रकार रूपकके रूपमें प्रकट न करती और अपनी अन्तरात्माको नग्न निर्लज्ज रूपमें व्यक्त होनेके लिये लालायित होकर ढोंगी यथार्थवादियोंका समर्थन करनेपर उतारू हो जाती, तो पृथ्वीमें प्रतिक्षण ज्वालामुखियोंका प्रचण्ड अग्नि-उद्‌गीरण, समुद्रमें प्रतिपल उत्ताल तरङ्गमालाओंका भयङ्कर विस्फूर्जन, आकाशमें निरन्तर मेघमालाओंका रुद्र कोपमय वज्र-वर्षण तथा नक्षत्रोंके रूपमें दिखाई देने वाले कोटि-कोटि महासूर्योंका अहरह प्रलयङ्कर ज्वालामय संघर्षण

दृष्टिगोचर होता, क्योंकि यही प्रकृतिके भीतरका नग्नरूप है। इसमें सन्देह नहीं कि इस नग्न रूपको प्रकृति कभी कभी बीच-बीचमें क्षणकालके लिये अभिव्यक्त कर बैठती है। ऐसे अवसरोंपर समझ लेना चाहिये कि उसकी अन्तर्चेतनामें क्षणिक विकार उपस्थित हो गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह क्षणिक विकार भी कविता-के रूपमें (रौद्र रस के बतौर) परिणत किया जा सकता है, पर तभी जब वह प्रकृति-के मूल सामाञ्जस्यके समागम लाया जा सके।

यहाँपर प्रसङ्गवश यह जता देना भी आवश्यक है कि विकार न होनेपर भी साधारण अवस्थामें भी, जब कि प्रकृति सुन्दर स्वप्नों, नाना रसों तथा मनोहर दृश्योंके रूपमें अपनी मूलात्माको अभिव्यक्त करती है, उस समय भी, उसके भीतर आलोडन विलोडन किसी न किसी रूपमें जारी रहता है। यह स्वाभाविक है। जो क्रिया (Process) स्वप्नोंका सृजन करती है उसकी प्रतिक्रिया उसे अभ्यन्तरके एक सिरेसे दूसरे सिरे तक आन्दोलित किये बिना नहीं रह सकती, हम उस आन्दोलनको भले ही न देख पायें।

प्रकृतिके स्वप्न-सृजनके सम्बन्धमें जो बातें कही गई हैं वे ही बातें कविके स्वप्न सृजनके सम्बन्धमें भी कही जा सकती हैं, क्योंकि कविकी प्रतिभाकी क्रिया भी प्रकृतिकी समान धारामें अज्ञातरूपसे चला करती है। कवि जिन स्वप्नोंको कवितामें अङ्कित करता है उन्हें रचनेमें उसके अभ्यन्तरमें भीषण संघषण विघषण-का आलोडन भी मचता है। उसे पाठक भले ही न देखें, पर वह कविको संक्षुब्ध किये रहता है।

हम देख चुके हैं कि कविके स्वप्न कविताके रूपमें रूपकके बतौर स्फुटित होते हैं। यह रूपक-रस काव्य-साहित्यमें कोई नयी वस्तु नहीं है। प्राचीनतम कालसे कविगण इस रसकी धारा बहाते चले आये हैं। पौराणिक गाथाओंके कवि (प्राच्य तथा पाश्चात्य—सभी देशों में) इस रसकी अजस्र धारासे साहित्य जगत्को आप्लुत कर गये हैं। कालिदासके मेघदूतमें यह रस लबालब भरा हुआ है। यक्षके विरह और व्यथाकी वेदनाके रूपमें वज्रशापकी जड़तामें चिरस्तब्ध मानवात्माकी चिर मिलन-व्याकुलता व्यक्त करके अलकापुरी-रूपी चिर-यौवन-के चिदानन्दमय राज्यके शाश्वत सुखकी प्राप्तिकी ओर उसकी चिर-उत्सुकता-का स्वरूप कालिदासने अमर रूपकके रूपमें वर्णित किया है। Freud ने स्वप्नको जिस Wish-fulfilment या Symbol बताया है, कालिदासके मेघदूतमें वह पूर्णतः प्रतिफलित हुआ है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों-

के यूरोपियन कवियोकी कविताओमें रूपक रसके अतिरिक्त और कुछ नही पाया जाता। हमारे यहा वतमान युगमें रवीन्द्रनाथकी कवितामें यह रस जिस परिपूण वेगसे उमडा ह वसा शायद ही ससारक किसी अय कविकी कवितामें सम्भव हुआ हो। वतमान हिदी-कवितामें भी हम उस रसको छल्कने हुए देखते ह। छायावादी कविताकी विशेषता और महत्ता इसी बातपर है कि वह इस रूपक-रसको अत्यन्त मनोहर तथा मुग्धकर रूपमें हमारे आगे रखनेमें समय हुई ह।

अपनी आत्माके निपीडनसे सुदर रूपकमय स्वप्नोको सृजन करनेवाले इन कवियोकी कविताओको 'अस्पष्ट करार देकर उनकी अवज्ञा करनेसे काम नही चलेगा, बल्कि चेष्टा यह करनी होगी कि उह समझनेके लिये अपनी आत्मानुभूतिसे उनकी आत्मानुभूतिकी कुञ्जी प्राप्त की जाय। कविकी कविता उसकी जीवनकालव्यापी साधनाका घन होती ह। उसे एक चुटकीमें उडा देना अथवा सरसरी निगाहसे एक बार पढकर न समझ पानेपर उसे अथहीन करार देना, कवि तथा कविताके प्रति घोर अयाय करना है। विश्वविद्यालयोमें शेली, कीट्स, कालेरिज, वडस्वथ आदिकी कविताओपर नोटपर नोट छात्रोको रटाये जाते ह, तब भी छात्रगण उह अच्छी तरह समझ नही पाते। यह होनेपर भी किसी साहित्यालोचकने यह नही कहा कि वे 'छायावादी और अथहीन ह। तब बेचारी हिन्दी कवितापर यह जुल्म क्यो? यह केवल अपनी मातृभाषाकी विवशताका अनुचित लाभ उठाना है।

अस्पष्टताके अलावा वतमान हिन्दीकवितापर एक और दोष लगाया जाता है। लोग अक्सर कहा करते ह कि छायावादी कवियोकी कविताओमें घोर नैराश्य तथा गहन विषादकी प्रगाढ छाया पाई जाती है और जीवनका आनन्द, आशा तथा उल्लासकी किञ्चित् झलक भी उनमें नही पाई जाती। हमारे नवीन कवियोके सकरुण क्रदन तथा मद मधुर वेदनके वणनोको वे लोग नपुसकता तथा निर्जीवताकी निशानी समझते ह। वे लोग यह बात समझना नही चाहते कि प्राचीनतम कालसे कवि लोग करुण अथवा विषाद रसका ही प्रमुख रस मानते चले आये ह। बल्कि भवभूति जसे सर्वोत्तम कवियोने करुण-रसको ही एकमात्र रस माना ह (एको रस करुणमेव)। आदि कवि वाल्मीकिकी अन्तरात्मामें करुणा तथा विषादके भावसे प्रेरणा पानेसे ही काव्य-सागरकी अनन्त धाराएँ हिल्लोलित हो उठी थी। महाभारतमें काव्यकी दृष्टिसे हमें द्रौपदीके चीर-आकषण तथा कीचक द्वारा अपमानित होनेपर निस्स-

छायावस्थामें उसके आर्त विलाप, दमयन्तीकी निदारुण निर्यातन-गाथा, आदि करुण तथा विषाद-रसपूर्ण घटनाओंमें जो रस प्राप्त होता है, वह किसी वीररसपूर्ण अथवा भोगविलासमय वर्णनमें नहीं। रामायणकी सारी कथा विषादके भावसे ओतप्रोत है। राम-वनवासकी हृदय-विदारक घटना उस भावके केन्द्रमें स्थित है और सीता-वनवासकी मर्मघाती घटना इस महाकाव्यको Finishing touch दे देती है। तुलसीदासकी रामायणमें काव्योत्कर्षकी दृष्टिसे उस स्थानका वर्णन सबसे अधिक सुन्दर है जहाँ पर कविने भरतकी राम विरह-जनित व्याकुलता, अनुशोचना, रोदन क्रन्दनके साथ-साथ उनका विह्वल प्रेमोन्माद वर्णित करते हुए अन्तमें उस अवस्थामें उसकी परिणति दिखाई है जब भरत वनमें रामके समीप आकर

पाहि नाथ कहि पाहि गुसाईं।
भूतल परे लकुट की नाईं॥

भरतके इस आर्त क्रन्दन तथा मोहमग्न अवस्थाको भी हमारे 'धीर, वीर, गम्भीर' साहित्यालोचक नपुंसकताकी ही निशानी बतावेंगे, पर कवि प्राण रसिक-जन इसी वर्णनमें काव्यका चरम सौन्दर्य पाते हैं।

यूरोपके अर्वाचीन साहित्यमें विषादकी रेखा प्रगाढ़ रूपसे अंकित है। शेक्स-पियर, गेटे (Goethe), शिलर आदि नाटककारों तथा कवियोंकी रचनाओंमें विषाद रस कूट-कूटकर भरा हुआ पाया जाता है। शेक्सपियर के 'हैमलेट'में यह रस पराकाष्ठाको पहुँचा दिया गया है, गेटेके Werther तथा Faust में मानव-जीवनकी असफलता, मनुष्य-चरित्रकी दुर्बलता, स्वार्थमग्न संसारकी संकीर्ण हृदयता आदि और भी कई निराशा-जनक कारणोंके अस्तित्वसे जीवनकी व्यर्थताका चित्र प्रतिफलित हुआ है। बायरनकी निराशावादिताके कारण Byronism का मत चल गया है, इटलीमें Leopardi, फ्रांसमें Lamartine, रूस आदिमें Poushkin प्रमुख लेखकोंकी रचनाओंमें विषाद ही केन्द्रगत भाव है। आधुनिक यूरोपियन साहित्यमें शायद ही कोई श्रेष्ठ लेखक ऐसा देखनेमें आवे, जिसकी रचना विषादके भावसे संश्लिष्ट न हो। शेलीका जीवन जिस प्रकार संकटाकुल था, उसकी कविताओंमें भी दुःखकी वैसी ही प्रगाढ़ छाया पड़ी है। 'Blithe Spirit' अथवा 'Spirit of Delight' की खोजमें वह व्यस्त है, पर 'West Wind' की Wild Spirit' तथा 'Spirit of Night' के प्रगाढ़ अंधकारमय, सर्व-संहारक होनेपर भी नव जीवन और उज्ज्वलताकी सूचना-प्रदर्शक रूपपर वह जी जानसे मुग्ध है। और तो क्या, वर्ड्सवर्थ तथा टेनिसनने

समान शान्त प्रकृति कवियोकी कविता तकमें विषादका मदु भाव पाया जाता है। लूसी नामकी एक छोटी लडकीके कर्म निरत, सेवापरायण निरानन्द तथापि शात, सयत तथा निर्विकार जीवनकी करुणा गाथाके वर्णनमें वडसवर्थकी कविताका मूलभाव केंद्रीभूत होता है। टेनिसनकी कविता उसके 'Lotos Eaters' की 'Mild-minded Melancholy' (मन्द-मधुर विषाद)से सर्वत्र आच्छन्न हुई है। इन दो कवियोके विषादके भावमें तथा गोल्डस्मिथके 'Deserted Village' और 'Vicar of Wakefield' के मूल-रसमें हैमलेटका तीव्र विद्रोह नही झलकता, इसमें सन्देह नही, पर इन कवियोकी कल्पनामें अनन्तके कठिन सनातन नियम (Eternal Law)के पदप्रान्तमें विरहिणी मुग्धा नायिकाकी सहनशीलताके साथ आत्मसमर्पण करनेका भाव प्रतिविंबित होता है। ईसाका मत दुखके प्रति यही भाव पोषित करनेका उपदेश देता है। ईसाई धर्ममें दुख धर्मका एक आवश्यक अग बतलाया गया है। ईसाकी "Blessed are they that mourn, for they shall be comforted" इस उक्तिमें यही भाव झलकता है। इसलिये यूरोपमें कई श्रेष्ठ साहित्यिको तथा शिल्पियोने यह भाव अपनाया है। प्रसिद्ध फ्रासीसी चित्रकार मिलेने जब किसानो तथा मजदूरोंके जीवनके मधुर चित्र अकित किए, तो देशमें विषाद रसका अपूर्व प्लावन बहा दिया, टालसटायने अन्य कई प्रसिद्ध चित्रकारो तथा कलाकोविदोकी तीव्र निंदा करते हुए मिलेके सबधमें लिखा था कि विषादका विशुद्ध तथा पवित्र भाव दरसानेके कारण उसके चित्र ईसाई धर्मके अनुकूल हैं। रूसो, उसके भक्त टाल्सटाय, तथा इन दोनोके भक्त रोमा रोलाँ—इन तीन मनीषियाने ईसाके आडबरहीन, सच्चे अनुयायी होनेके कारण, अपने हृदयमें स्थित विषादके भावको गर्वके साथ अपनाकर उसे महिमान्वित किया है।

कालिदासके मेघदूतमें चिर विरहज विषादका ही सकरुण, पर मधुर तथा आनदयुक्त गान गीत हुआ है, 'कुमार-सभव'में पार्वतीकी कठिन तपस्या, विशुद्ध तथा स्थायी प्रेमके लिये आवश्यक कठिन त्याग तथा दुखकी चिरकालिक महिमा का ही प्रतिरूप है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' यद्यपि सुखात नाटक है, पर उसे पढने पर, अन्तमें दुष्यत तथा शकुन्तलाका मिलन सघटित होनेपर भी, हृदयमें दुखिनी शकुन्तलाके नियम-क्षाम मुखकी विषाद-म्लान छाया ही घिरी रहती है। उत्तररामचरित में भी रामसीताके अन्तिम मिलनके कारण, हृदयमें अकित

निर्वासिता सीताका 'विग्ना कुररीव' दीण क्रन्दन किसी तरह मिटना नही चाहता।

ऐसा क्या होता है? मनुष्यको आनदके विशुद्ध भावसे विरह मिश्रित आनद क्या इतना सुखकर प्रतीत होता है? कोरे सुखके हास्यसे स्नेह-गलित आनदाश्रु क्यो प्रिय मालूम होते है? नवीना किशोरीकी प्रेम-जनित चचलतासे परिणतयौवना रमणीके मातृ-हृदयका विह्वल गाभीर्य क्यो मधुरतर जान पडता है? मनुष्यकी यह विषाद-ग्राहिणी प्रवृत्ति अत्यत रहस्यमय है। वसतके उज्ज्वल प्रभातसे शरत्-कालकी प्रशात सध्या हृदयमें अधिक उत्सुकता उत्पन्न करती है। नदीके चचल कलहास्यसे समुद्रका विकराल गाभीर्य कवियोको अधिक मोहित करता है। उद्यानकी रमणीयतासे अरण्यकी मर्मरध्वनि चित्तको अधिक आदोलित करती है। मै पहले कह चुका हूँ कि रवीन्द्रनाथको छायाके भावने अधिक मोहित किया है। व्यक्तके पीछे वह सदा अव्यक्तकी छायाके सधानमें रहे है। उज्ज्वलताके दृश्यसे उनके हृदयमें अधकारकी छाया घनीभूत हुई है। विषादके गाभीर्यका उन्होने गौरवके साथ वर्णन किया है। अपनी एक कवितामें वह स्वय लिखते है कि "यदि आज मेरी प्रिया जीवित होती तो उसे मै अपने हृदयमें स्थित विषादकी वृहत् छाया तथा सुगभीर विरह व्यक्त करके दिखलाता।" इसी बातको उन्होने फिरसे समझाया है—"जिस प्रकार दिनका अवसान होनेपर रात्रिके अधकार निलयमें विश्व अपने ग्रह-तारकाओको लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास्य-परिहाससे मुक्त इस मेरे हृदयमें वह अतहीन जगत्का विस्तार देखती।" आत्माकी विपुलता अधकारकी विजनतामें ही प्रकट होती है। उज्ज्वलता में चाचल्यका भाव वर्तमान रहता है, और अधकारमें एक प्रकारका स्थायित्व है। इसी कारण अधकारकी स्तब्धता कवियोको इतनी प्रिय है। सध्या तारोके स्तिमित प्रकाशमें एक प्रकारके मधुर तथा स्थायी विषादका भाव वर्तमान है। इसलिये कितने ही कवियोने कितने ही प्रकारसे इसके सौंदर्यका वर्णन किया है, पर फिर भी उन्हे तृप्ति नहीं हुई।

वर्तमान हिन्दी कविताकी अस्पष्टता, उसके रूपकमय रूप, विषाद-रस आदिके सबधमें मने जो कैफियत पेश की है वे काफी नहीं। अगरेजीकी इस मशहूर मसलसे सभी परिचित है कि दोषी आत्मा सदा शङ्कित रहती है। मेरा भी यही हाल है। मुझे भी यह शङ्का है कि विद्वज्जन मेरी कविताओको पढकर उनपर ये ही दोष आरोपित करेंगे। क्योकि यद्यपि मुझे अपनी कविताएँ अत्यन्त तरल, और आत्मेव-

रश्मिवत् सरल मालूम पड़ती है, तथापि सम्भव है बहुत-से पाठकोंको वे कठिन और कुटिल जान पड़ें। इसके अलावा मेरी अधिकांश कविताएँ रूपकमय हैं और उनमें विषाद रसकी प्रबलता है। इसलिये मुझे वर्तमान हिन्दी कविताओंकी आलोचनामें उक्त 'दोषों'की सफाई देनी पड़ी है। पर केवल इतनीसी सफाईसे मेरा काम नहीं चलेगा। 'परिमल'की भूमिकामें निरालाजीका यह कथन मुझे अत्यन्त उपयुक्त जान पड़ा कि अपनी कविता पुस्तककी भूमिकामें स्वयं अपनी ही कविताओंके सम्बन्धमें प्रकाश डालनेका प्रयत्न मूर्खतापूर्ण तथा हास्यास्पद है। (निरालाजीके शब्द मुझे याद नहीं हैं, पर जहाँ तक मेरा खयाल है उनका आशय कुछ इसी प्रकारका था।) मैं इस प्रकारकी चेष्टाकी हास्यास्पद मूर्खताको भली भाँति महसूस करते हुए भी अपनी कुछ विशिष्ट कविताओंके सम्बन्धमें कुछ कहनेके लिये इस कारण विवश हूँ कि मेरे कुछ साहित्यिक मित्रोंने मुझे इसके लिये अनुरोध किया है। 'विशाल भारत' के सुयोग्य तथा विद्वान् सह सम्पादक श्री व्रजमोहन वर्माने भी मुझे यही राय दी है। मैंने इस संग्रहकी सब कविताएँ वर्माजीको पढ़नेके लिये दी थीं। उन्हें यद्यपि उन कविताओंमेंसे किसीका भी भावार्थ समझनेमें कहीं किसी प्रकारकी रुकावट नहीं पड़ी और उन्होंने प्रत्येक कविताका वही अर्थ लगाया जैसा कि मेरे मनमें कविता लिखते समय वर्तमान था, तथापि उन्होंने इस बातकी आवश्यकता महसूस की कि पुस्तककी भूमिकामें कविताओंके रूपकात्मक भावोंके सम्बन्धमें थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जाय। अतएव मैं इस सम्बन्धमें दो शब्द कहना आवश्यक समझता हूँ।

सबसे पहले मैं अपनी 'राजकुमार' शीर्षक कवितापर यत्किञ्चित् प्रकाश डालना चाहता हूँ। इस कविताके सम्बन्धमें साहित्यके पारखियोंका कहना है कि छन्द-सङ्गीत, भाषा-लालित्य तथा रचना वैचित्र्यकी दृष्टिसे कविता सुन्दर होने पर भी उसका रूपकात्मक भाव समझमें आना कठिन है। मेरी तुच्छ सम्मतिमें यदि पाठक विरोधी संस्कारोंको मनसे हटाकर कविताका यथार्थ भाव जाननेकी इच्छासे इसे पढ़ें तो उन्हें मालूम होगा, उसका मनोवैज्ञानिक रूपक अत्यन्त स्पष्ट तथा सरल है। उक्त कवितामें एक निर्मल, निष्कलुष तथा निर्लिप्त आत्माके उन्मेष, विकास तथा ह्रासका मनोवैज्ञानिक वर्णन रूपक रसकी दृष्टिसे किया गया है। हिमकी उज्ज्वल शुभ्रताको मैं सर्वदा पवित्रताका *Symbol* मानता आया हूँ। इसलिये मेरे राजकुमारकी निवासभूमि—

शुभ्र-शान्त हिम-महिम असीम विजनमें

होनेसे उसकी पारिपार्श्विक स्थिति उसकी निर्मल आत्माके पूर्णत अनुकूल है। जिन लोगोने कभी जाडामें पहाडोपर बरफ गिरते हुए नही देखी अथवा कभी 'हिमालय'के दर्शन नही किये वे इस बातकी कल्पना तक नही कर सकते कि हिमराशि अथवा हिमानीकी शुभ्र उज्ज्वलता क्या चीज है। यह बात बिना अतिशयोक्तिके कही जा सकती है कि यदि अमावस्याकी घन मेघाच्छन्न अंधकार रात्रिमें भी जमीनपर बरफ बिछी हुई हो तो उस बरफकी सफेदीके कारण चादनी रातका भान होने लगता है फिर चांदनी रातके सबधमें कहना ही क्या है! तब तो परिस्तान भी उस दृश्यके आगे नाचीज मालूम होता है। अस्तु। इस प्रकारकी शुभ्र श्वेत नीहारराशिके बीच 'हिमकी स्फटिक शिलासे रचित भवनमें' नित एकाकी रहने वाले राजकुमारकी निष्कलङ्क आत्मा नित उल्लसित रहेगी, इसमें आश्चर्य ही क्या है!

हिमकी केवल शुभ्रता ही पवित्रताकी द्योतक नही है, बल्कि उसका शैत्य (ठण्डक) भी इसी भावको जताता है। कवियाने यौवनोन्मादकी उपमा अग्निसे दी है और उत्कट काम-लालसाको लोग प्राय कामाग्नि कहा करते है। इसके विपरीत कामेच्छासे विरतिको अगरेजोमें frigidity कहते है, जिससे बरफकी तरह जम जानेका भाव व्यक्त होता है। शेक्सपियरने भी As chaste as ice (हिमके समान काम वासना रहित), इस भावके द्वारा स्त्रीकी अकाम मनोवृत्तिका वर्णन किया है।

मेरे राजकुमारकी आत्मा अपनी प्रभातकालीन अवस्थामें हिम-महिम असीम विजनमें निर्जन निर्वासकी दशामें रहने और नित्य अपने भीतर तथा बाहर, सर्वत्र, एक ही निर्विचित्र रूप (अथवा यो कहिये कि अरूप—क्योकि हिमकी शुभ्रताका कोई रूप या रङ्ग नही होता) के दर्शन करते हुए अलस शान्तिमें मग्न रहती थी—

एक रूप प्रतिबिम्बित था उस मनमें,
प्रतिभासित थी हाय एक ही ज्योती!
शून्य हृदयके उस नि स्पद विजनमें
अलस शान्ति थी झूम-झूमकर सोती।

तथापि वह अपने आपमें ही मग्न रहकर परिपूर्णताके उल्लाससे उच्छ्वसित रहता था। यह दशा केवल मेरे राजकुमारकी ही नही, वैदान्तिकोकी भाषामें प्रत्येक

जीवात्माकी प्रारम्भिक अकरूप अवस्था इसी प्रकारकी होती है। पर धीरे धीरे उसपर मायात्मिका प्रकृति अनक रूप, वहुरङ्ग, तथा रस वचित्र्यका जाल फलाने लगती ह और वह अपनी निर्विचित्रता तथा एक रूपतासे उकताने लगती ह। मेरे राजकुमारका भी वही हाल हुआ। उसपर यौवनकी रङ्गीनी छाने लगती है और वह जीवनकी बहुरङ्गी वर्णच्छटा, तथा नाना रूप रस-गन्धमय लुब्धताकी ओर धावित होनेके लिये छटपटाने लगता ह। उसकी इस अनन्त रङ्ग-तथा अपार तरङ्गमयी अभिलाषा अथवा वासनाकी तृप्ति अल्कापुरीके चिर यौवनमय तथा सदावहार प्रदेशमें ही अच्छी तरह हो सकती थी। इसलिये मने उसे वही रूप-रङ्ग, यौवन-उमङ्ग तथा अमर-अनङ्गकी मुक्त तरङ्गमें लाकर खडा किया ह। शुभ्र हिम-महिम असीम विजनसे, जहाँ चारो ओर केवल अनन्त प्रसारित हिमकी एकरूपताके अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नही होता था, अलकापुरीके बहुरङ्गी मायामय लोकका अच्छा contrast (विरोधाभास) मुझे जान पडा।

अल्कामें विविध रूप रस-गन्धकी विचित्रताका मनमाना उपभोग कर चुकने के बाद राजकुमार अघाने लगता है। और

धीरे धीरे एक कालिमा छाया
लगी हाय दोनोके मुहमें छाने,
अवश हुई लालस रस विजडित काया,
कलुषित यौवन-कली लगी कुम्हलाने।

यौवनोन्माद ठण्डा पडनेसे केवल राजकुमारकी आत्मामें ही क्रान्ति नही मची, उसकी पारिपार्श्विक अवस्थामें भी परिवर्तन होने लगा। उदाहरणार्थ, कनक शैलकी दीप्ति अस्तङ्गत हुई, अल्काकी स्वर्ण रेणुकी रङ्गत किरकिरी हो गयी और वह तुच्छ धूलि-सी आकाशमें उडने लगी। असल बात यह ह कि रेणु वास्तवमें स्वर्णकी नही थी, केवल यौवनकी मायाने उसे वह लोक प्रवञ्चक रूप दिया था। यौवनकी उमङ्ग शिथिल पडनेपर सब चीजें अपने यथार्थ रूपमें दिखाई देंगी, इसमें आश्चर्यकी कौनसी बात ह?

राजकुमारको फिरसे अपने हिम-लोक, हिम भवन और हिम-परियाकी याद आने लगी और वह

बहुरङ्गी मायाका तजकर अञ्चल
शुभ्र रूपके चरणोमें रोनेको

छटपटाने लगा। अर्थात् वह फिरसे बहुरूपात्मिका प्रकृतिके मायाजालसे छुटकारा पाकर अरूपकी शुभ शान्तिमें विलीन होनेके लिये लालायित हुआ। लगन जो लगी तो वह माया-बन्धन तोडकर उसी हिमलोककी ओर लौट चला। पर हाय! अब वहांका रास्ता ही भूल गया था और लाख स्मरण करनेपर याद न आता था! कभी कण्टकाकीर्ण जङ्गलामें ठोकरें खाता, कभी गहन गह्वरयुत गिरिपर चढता। पर व्यर्थ भटकनेके सिवा कुछ हाथ नही आता था। ज्यों-ज्यों वह विगत जीवन-पथकी ओर अग्रसर होता था त्यों-त्यों मानो अपने लक्ष्यसे अधिक दूर हटता चला जाता था। यह उसे किसीका वज्रशाप था जो किसी भी दुर्दमनीय प्रयत्नसे टूट नही सकता था!

जो अनुभव मेरी कविताके रूपकात्मक राजकुमारको हुआ है, मेरी धारणा है कि अधिकांश भावुक व्यक्तियोंको अपने जीवनके मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विकासमें ठीक वैसा ही अनुभव होता है। शैशवावस्थासे लेकर कैशोरावस्था तक भावुक व्यक्तिकी आत्मा निष्कलुष जीवनकी पुनीत धारामें निर्द्वन्द्व रूपसे तन्मज्जमान होती रहती है और उसके अन्तर्जीवनका रूप रङ्ग-रहित निर्मल वातावरण शुभ्र पुण्यकी स्वच्छ, सुशीतल, तुषारोज्ज्वल महिमासे मण्डित रहता है। पर जब धीरे-धीरे यौवनका मधुर मोह अङ्ग-अङ्गको अपने लालस-आवेशसे अलसित करने लगता है और तरुण करुण जीवनकी बहुरञ्जित राग नयन किरणोंमें मदिर तथापि करुण रूपसे सरसाने लगता है तो उस चित्रात्मिका मायाके वशमें उसकी सर्वात्मा मग्न हो जाती है। अन्तमें प्रकृतिके वज्र-कठिन नियमके फलस्वरूप जब उसका उन्माद ढीला पड जाता है और आँखें खुलने लगती है तो वह अपनी अवस्था देखकर आतङ्कित हो उठता है और फिरसे उसकी अन्तरात्मा अपने पुनीत कैशोर जीवनके स्निग्ध शान्त क्रोडमें लौट जाना चाहती है। पर कोटि उपाय करनेपर भी फिर वह अपने विगत जीवन-मार्गकी ओर लौटनेके लिये अपनेको समर्थ नही पाता। वह पीछेकी ओर देखता है, पर जिस पथसे वह यौवनके प्राङ्गणमें आया था, वहाँ कुटिल कण्टकाकीर्ण अरण्यका जटिल जाल फैला हुआ पाता है। वह समझ जाता है कि जीवन-चक्रने उसे जिस अज्ञात पथपर लाकर खडा कर दिया है उसके और कैशोर जीवन-लोकके बीचमें वज्र-कठोर व्यवधान पड गया है। वह सर पटकता रह जाता है और जीवनके अन्त तक अन्धकारमें भटकता ही रहता है।

मानव-जीवनकी इस चिर-रहस्यमय, आतङ्कोत्पादक 'ट्रेजेडी'को अपनी 'राजकुमार' कवितामें रूपकके तौर चित्रित करनेका प्रयास मैने किया है। अपने इस

प्रयत्नमें मैं कहाँ तक सफल हुआ हूँ, इसका विचार केवल गुणीजन ही कर सकते हैं।

'राजकुमार'की व्याख्या मैंने किञ्चित् विस्तृत रूपसे इसलिये की है कि सहृदय तथा सुधी-पाठकगण मेरी अन्यान्य कविताओंके रूपकोंपर भी इसी ढँगसे विचार करेंगे। दूसरी कविताओंके सम्बन्धमें मुझे अधिक कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगा, क्योंकि अब पाठक मेरी कविताओंकी रूपकात्मक नीतिका स्वरूप समझ चुके होंगे। तथापि संक्षेपमें दो चार कविताओंके सम्बन्धमें कुछ सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

'विजनवती' में मैंने विजनकी उस अमूर्त प्रतिमाका 'दृजिय' गीत गाया है जिसमें मैंने अपने मानसकी मूर्तिमती जीवित प्रतिमाका प्रतिरूप पाया है।

'दमयन्ती' में मैंने 'दमयन्ती'के करुण जीवनके विषादमय छायाके background में स्वयं अपने खिन्न मानसको प्रतिष्ठित करके उस विशेष कोणसे जीवनके अनन्त आनन्दमय स्वप्नोंका निःशेष उपभोग करना चाहा है। दमयन्तीको जिन स्वप्नोंकी मायासे मैंने दिलासा देना चाहा है वे स्वयं मेरे नाना अभिघातोंसे विताडित जीवनके नाना रसात्मक, आदर्शमय स्वप्नोंके रूपकात्मक रूप हैं।

'नरक निवासी' में मैंने अपनी उस मनोवैज्ञानिक अवस्थाका वीभत्स वर्णन किया है जब कि मेरा समस्त अन्तश्चेतन घोर अन्धकारमय गहन गह्वरकी आतङ्कप्रद विभीषिकामें परिपूर्णरूपसे निमज्जित था। मैं पुण्य प्रकाशके लिए छटपटा रहा था, अन्धकारमें टटोलता हुआ ऊपर आनेका मार्ग ढूँढ रहा था, पर 'स्तर-स्तरपर दुस्तर प्रस्तरों'का ऐसा वज्र-कठोर अवरोध मेरे ऊपर पड़ा हुआ था कि उसे लाँघना मैं असम्भव मालूम कर रहा था। तथापि उस भयावह, घन-तमसाच्छन्न पङ्किलतामें पुण्यमय मर्त्यजीवनकी दिव्य विभूति, उसके सुख-दुःखमय चिर-गतिशील प्रवाहपर अज्ञातरूपसे वर्षित होने वाली अमर ज्योतिकी करुण किरणधारासे मेरा अज्ञात चेतन निरन्तर आन्दोलित होता रहता था।

'महाश्वेता' शीर्षक कविता लिखनेकी प्रेरणा मुझे 'कादम्बरी'की 'महाश्वेता'के चरित्रसे अवश्य प्राप्त हुई, पर इस कविताका मूल भाव औपन्यासिक महाश्वेताके व्यक्तित्व तक ही सीमित नहीं है। इसमें मैंने विश्वनारीके महामङ्गलमय रूपके विभिन्न स्वरूपोंका विचित्र सम्मिश्रण रूपकात्मक ढँगसे व्यञ्जित करनेकी चेष्टा की है। महत् त्याग, अविचल सहिष्णुता, उज्ज्वल श्री, विह्वल ह्री सकरुण सुकुमारता, सरस, स्निग्ध स्नेहशीलता, शुभ्र तुषारोपम कठोर पवित्रता तथा प्रज्व-

लित वह्निसम दीप्त तेजस जो मम वय कन्याणीया मातृजातिमे वर्तमान है उसे मने महाश्वेताके रूपकमें बाँधनेका दुस्साहस किया है।

'मायावनी'में निखिल प्रकृतिके क्रन्दनोच्छ्वास तथा हासोल्लासमय रूपकी द्वन्द्वमयी लीलाका चित्रण करनेका प्रयास किया गया है। यह द्वन्द्व भाव मुझे वाह्य प्रकृति तथा (पुरुष और नारीकी) अन्त प्रकृति दोनामें ही समान धाराओमें प्रवाहित होते हुए दिखाई दिया है।

'शकुन्तला'के सम्बन्धमें यद्यपि बहुत कुछ कहनेकी गुन्जाइश है, तथापि म इसके विषयमें यहाँ पर अधिक नही कहूँगा। केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि कालिदासकी इस मानस-कन्याको म बहुत पहले अपनी आदर्श मानसी प्रतिमाके बतौर अपनी आत्माके अन्त पुरमें प्रतिष्ठित कर चुका था और उसे अपने हृदय राज्यकी महिमा मण्डित रानी मान चुका था। इसलिये पति प्रवञ्चिता, आश्रम-परित्यक्ता निर्वासिता नारीको उसकी चरम असहाय अवस्थामें प्रदर्शित करके मने अपनी आत्मामें उसके प्रति अधिकाधिक समवेदना उभारनी चाही थी, ताकि म उसकी स्वप्न प्रसूत आत्माको परिपूर्ण रूपसे अपनाकर उसे अपनी 'प्यारी ललिता' के बतौर द्विधाहीन भावसे ग्रहण कर सकूँ, और उसके स्वप्न-भङ्गमें व्यावहारिक जगत्की क्रूर कठिनाइयाको भुला सकूँ।

मेरा 'सेविका' शीर्षक कविता प्राय दस वर्ष पहले लिखी जा चुकी थी और 'राजकुमार' प्राय ६ साल पहले। इसलिये यदि इन कविताओ में तथा जनेन्द्र-कुमारजी लिखित 'परदेसी'-शीर्षक नाटिकामें (जो अक्टोबर १९३६ की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई है) भावात्मक साम्य पाया जाता हो तो इसके लिये मैं उत्तरदायी नहा हूँ। मेरा अभिप्राय जनेन्द्रकुमारजी पर किसी प्रकारका दोषारोपण करनेका नहीं है। मैं इस बातपर कदापि विश्वास नही कर सकता कि उन्होने मेरी कविताओंसे भाव चुराया है। म इस बातका उल्लेख भी न करता यदि मेरे तीन-चार साहित्यिक मित्रोंने मेरी हस्तलिखित कापियाँ देखकर मुझपर उल्टा जनेन्द्रकुमार-जीके भाव चुरानेका दोष न लगाया होता। कहीं अन्याय पाठकोंके मनमें भी इसी प्रकारकी धारणा जम न जाय, इसलिये मने कविताओके नीचे रचना-काल दे दिया है और भूमिकामें अपनी सफाई के लिये इतना सा कह देना आवश्यक समझा है। म मानता हूँ कि यह मेरी भीरुता है, पर सम्भवत मेरी स्थितिमें यह क्षम्य है।

अपनी शेष कविताओंके सम्बन्धमें म अभी चुप रहना ही श्रेयस्कर समझता हूँ

और मेरा खयाल है कि उनके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी कैफियत देनेकी कोई आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि उनके भाव स्वत स्पष्ट हैं।

अन्तमे अपनी भाषाके सम्बन्धमें दो बातें लिखकर मैं यह नीरस भूमिका समाप्त करना चाहता हूँ। मैं जानता हूँ कि अपनी भाषाके सम्बन्धमें स्वय कुछ लिखना अशोभन है, पर एक विशेष कारणसे मुझे इस विषयकी चर्चा आवश्यक प्रतीत हुई है। हिन्दीके प्रसिद्ध तथा सुयोग्य साहित्यालोचक प० शान्तिप्रिय द्विवेदीने अपनी एक आलोचनात्मक पुस्तकमें मेरी भाषाका उल्लेख करते हुए लिखा है कि उसमें 'बँगलाका आदान' पाया जाता है। पता नहीं द्विवेदीजी जैसे विचक्षण व्यक्तिके मनमें ऐसी भ्रान्त धारणा कैसे उत्पन्न हो गयी। इसका एकमात्र कारण केवल यही जान पडता है कि उन्हें मेरी अधिकाश कविताओंको पढनेका अवसर नहीं मिला, और जो दो चार कविताएँ उन्होंने पढी भी है वे जल्दबाजीमें। इसके अलावा और कोई दूसरा कारण मुझे नहीं दिखाई देता। मुझे इस बातका पूर्ण विश्वास है और मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि मैंने बँगलासे आधा शब्द भी कहीं नहीं लिया है और न बङ्गाली कवियोसे मुझे भाव या भाषामें कहीं लेशमात्र प्रेरणा ही मिली है। मुझे इन भारतीय कवियोसे प्रेरणा प्राप्त हुई है—सस्कृतमें मुख्यत कालिदास, भवभूति, बाण, जयदेव आदिसे और हिन्दीमें तुलसीदाससे। और इन्हीं कवियोने मेरे शब्दकोषको भी बढाया है। इन कवियोंके अलावा ऋग्वेद, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोसे तथा सस्कृतके छोटे मोटे बहुतसे कवियो (जैसे घटकर्पर, दण्डी, बिह्लण, गोवर्द्धनाचार्य, अमरुक, जगन्नाथ आदि) के अध्ययनसे भी मेरा शब्दभाण्डार वर्धित हुआ है। अतएव सस्कृतसे अपरिचित और बँगलासे यत्कि ञ्चित परिचित कोई व्यक्ति भले ही यह कहनेकी भूल करे कि मेरी कवितामें 'बँगला का आदान' है, पर मित्रवर शान्तिप्रियजीसे मैं ऐसी आशा नहीं कर सकता था। इसलिये मेरा विश्वास है कि जल्दबाजीके कारण वह ऐसी बात कह बैठे है। बहुत सम्भव है, मेरे अज्ञातमें मुझे भाषाके सम्बन्धमें कहा-कहा एक आध स्थानमें रवीन्द्रनाथसे भी प्रेरणा मिली हो, तथापि मैं दावेके साथ कह सकता हूँ कि रवीन्द्रनाथ द्वारा अपनाया गया कोई भी ऐसा सस्कृत शब्द मेरी कविताओंमें कहीं नहीं आया जिसे वर्तमान हिन्दी कविताके आचार्यों (प्रसाद, पन्त, निराला आदि) ने न अपनाया हो। मैंने ठेठ बँगला शब्दोंकी बात तो दूर रही बङ्गालियो द्वारा विशेष रूपसे अपनाये गये बँगला शब्दोका व्यवहार भी बहुत कम किया है तथापि मेरी भाषा 'आदानी' मानी गयी है, इसे मेरे दुर्भाग्यके सिवा और क्या कहा जा सकता है!

निस्सन्देह मने बँगलाके दो चार ऐसे शब्दोको ग्रहण किया ह जि ह बगाली लेखकोने हि दीसे अपनाया है। जहाँ-जहाँ मने इस प्रकारके शब्दोको अपने भाव और छन्द-सङ्गीतके उपयुक्त समझा है वहाँ वहाँ मने इरादतन् उनका उपयोग किया और ऐसा करनेका अपनेको पूरा अधिकारी समझा ह।

शान्तिप्रियजीने मेरी भापाके सम्ब धमें एक ऐसी पतेकी बात लिखी है जो मुझे बहुत जँची। उन्हाने लिखा है, उसमें 'परुप सुकुमारता' पायी जाती ह। म अपने आप अपनी भापाके वास्तविक स्वरूपकी ठीक-ठीक परख करनेमें असमथ था। तथापि म चाहता था कि मेरी भापा मेरे भावके पूणत अनुरूप हो। मैं नही चाहता था कि मेरी कविताओमें स्त्रण भावाका समावेश हो, तथापि कठिन, कठोर, परपतासे भी मैं बहुत घबराता हूँ। मेरी ऐसी धारणा ह कि मेरी कविताओके भाव भी 'सपरुप सुकुमार' ही ह, अतएव यह जानकर मुझे अतीव प्रसन्नता हुई कि मेरी भापा भी मेरे भावोके अनुरूप ह। मं यद्यपि सरस, सुललित, कोमल-कमनीय भापाका गुण-ग्राहक हूँ, तथापि मेरा विश्वास है कि उच्च और गम्भीर भावोंके वणनके लिये कालिदासकी मेघदूती भापाका स्निग्ध-गम्भीर घोपात्मक रूप ही सुन्दर जँचता है, जिसमें सरसता और सजलताके साथ गुरुत्व भी हो। यहाँपर प्रसङ्गवश मुझे रवी द्रनाथकी एक बात याद आ रही है। उन्हाने अपनी किसी एक पुस्तकमें लिखा था कि कोमल-का त पदावलीके आचाय, गीत-गोवि दके सुप्रसिद्ध रचयिता जयदेव कविकी ललित-लवङ्गी भापा यद्यपि अत्यन्त सरल और सुकोमल ह, तथापि इसकी सरसता केवल बाह्येद्रिय को तृप्त करके ही रह जाती ह, अर्थात् वह रसज्ञके मममें प्रवेश नही कर पाती। जयदेवके प्रसिद्ध पद 'ललित-लवङ्गलता-परिशीलन-कोमल-मलय-समीरे' आदिकी तुलनामें उ होने कालिदासका निम्न पद उद्धत किया था—

आवर्जिता किञ्चिदिव स्तनाभ्याम्
वासो वसाना तरुणाक रागम्।
पर्याप्त पुष्पस्तबकावनम्रा
सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव ॥

इस श्लोकके सम्ब धम रवी द्रनाथने लिखा था कि इसकी भापाकी सकठिन-कोमलता, इसकी गतिका उत्थान और लय मिलकर जादूका ऐसा म त्र-सा फूक देते ह कि वह अ तरि द्रियको तीव्र वेगसे आन्दोलित करता ह। इसके अतिरिक्त इसके अन्तरीण भावके रसोच्छ्वासने भी इसकी सपरुप-सुकुमार भापाके शब्द-

सङ्गीतको श्रुति मधुर बना दिया है। असल बात यह है कि श्लोककी भाषा उसके भावके अनुरूप है और भावमें सरस गाम्भीर्य होनेसे तदनुरूप सपरुष-सरस भाषाने उसका माधुर्य बढा दिया है। कालिदासकी भाषा सर्वत्र इसी ढँगकी है और दण्डीकी तरह पद लालित्यके पीछे पागल होकर उन्होंने अपने भावको खब करना नहीं चाहा है।

मने अपनी कविताओंमें भावके अनुरूप बहुत से नये शब्दोंको सिरजा है और सङ्गीत तथा ध्वनिको ध्यानमें रखकर संस्कृतके बहुतसे शब्दोंको मनमाना रूप दिया है। मै जानता हूँ कि कवियोंकी इस निरङ्कुशताको भाषातत्त्व वेत्तागण अक्षम्य समझते है। तथापि आशा करता हूँ कि रसज्ञजन रसकी ओर अधिक ध्यान देकर मेरी यह धृष्टता क्षमा करेंगे। मै भाव, रस और छन्द-सङ्गीतको भाषातत्त्वके नियमोंसे अधिक महत्त्व देता हूँ और यदि किसी शब्दको तोडने मरोडनेसे भावाभास, रस माधुर्य तथा सङ्गीतकी झनकारमें वृद्धि होनेकी सम्भावना हो तो मै ऐसा करनेमे कोई दोष नही देखता।

अपने मध्य विरामात्मक छन्दके सम्बन्धमें मुझे केवल इतना ही कहना है कि काव्य साहित्यमें इस प्रकारका छन्द कोई नयी चीज नही है। कविताके बीचमें भाव तथा अर्थके अनुरूप इच्छानुसार जहा तहा पूर्ण विराम तथा अर्द्ध विराम देनेकी प्रथा यूरोपियन कवियोंमें बहुत पहलेसे प्रचलित थी। हमारे यहा भी संस्कृत कवियोंने इस ढँगको कहीं कहीं अपनाया है और पदके बीचमे एक वाक्य समाप्त करके आधे पदसे दूसरा वाक्य प्रारम्भ किया है। बङ्गालमें पहले पहल माइकेल मधुसूदन दत्तने अपने अमित्राक्षर छन्दकी रचनाओंमें पदके बीचमें वाक्य समाप्त करनेकी शैली प्रचलित की। उनके बाद रवीन्द्रनाथने इसका भूरि-भूरि उपयोग किया। ऐसे छन्दोंमें यह सहूलियत रहती है कि भावकी धारा प्रवाहका वेग अविराम गतिसे बिना किसी बाधाके आगेको बढा चला जाता है। इस प्रकारकी कविताओंके पाठमें कुछ लोग असुविधा मालूम कर सकते है, पर वास्तवमें बात ऐसी नही होनी चाहिये। छन्दके बीचमे जहा जहापर विराम आता है वहा एक साधारणसे Accent द्वारा वह जताया जा सकता है और पढनेवाला मन ही मन उस विराम की अर्थ-व्यञ्जना ग्रहण करता हुआ छन्दकी गति और यतिमें कोई बाधा न मानता हुआ आगेको बढा चला जाता है।

अब मै विद्वज्जनोंसे प्रार्थनाके बतौर दो शब्द निवेदित करके इस नीरस भूमिका-को समाप्त करना चाहता हूँ। सबसे पहले मै जिस बातके लिये विद्वज्जनोंसे क्षमा

याचना करना चाहता हूँ वह यह है कि मेरी भूमिकामें मेरे अज्ञातमें अहम्मन्यताकी बहुतसी बातें आ जानेकी विशेष सम्भावना है। इसके कई कारण है, जिनमें शायद प्रमुख यह है कि इधर मुझे सर्वत्र अपनी लघुता नजर आ रही है और अपनी नगण्यताके बोधने मुझे बहुत अधिक वित्रस्त कर रखा है। अतएव इस Inferiority Complex की प्रतिक्रियाके फलस्वरूप मुझमें अनजानमें दाम्भिकताका भाव आ जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, यद्यपि मैंने यथाशक्ति नम्रता प्रकाश करनेकी चेष्टा अन्त तक की है। मैं आशा करता हूँ कि सुधी-समाज मेरी परिस्थितिका खयाल करके मुझे अवश्य क्षमा करेगा और जहाँ-कहीं मेरी कलमसे कोई अनुचित बात निकली हो उसके प्रति अवज्ञाका भाव प्रदर्शित करेगा। बहुत मुमकिन है, लोगोंको मेरी कविताओंके भाव कुछ अनोखे और बेतुकेसे लगें और वर्तमान हिन्दी कवितामें साधारणतः प्रचलित कविताओंसे कुछ विचित्र जान पड़ें। तथापि मुझे पूरा विश्वास है कि हिन्दी-जगत्‌में अब नये-नये भावोंको अपनाने और बिना किसी Prejudice (विरोधी संस्कार)के साहित्यकी प्रत्येक सामग्रीके मूल तत्त्वकी यथार्थ परख करनेकी प्रवृत्ति तथा योग्यता नितप्रति बढ़ती जा रही है। हो सकता है, मेरी कविताएँ निःसार हों और उनमें केवल शब्दजालकी चातुरी और अर्थहीन आडम्बर हो, तथापि मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि रसिकजन उन्हें एक बार पूर्ण रूपसे तथा निष्पक्ष भावसे पढ़नेकी कृपा करें और कालिदासने अपनी सर्वप्रथम नाटक रचनाके सम्बन्धमें जो निम्न श्लोक लिखा था उसे ध्यानमें रखनेका अनुग्रह करें —

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

सूची

महाविजनसे सजनी मेरी आयी—प्यारी विजन-कुमारी,
नग्न नयनमें नील गगनका अञ्जन
मेरे मनका मान कर रहा भञ्जन,
स्वण-क्षण विहरणसे हृदय हरण कर
झिलमिल झलकाती है छवि क्या न्यारी?



जगमग जीवन जगा रही है उसका—तारक-दीपावलियाँ,
फुहराकर उल्काओंकी फुलझड़ियाँ
प्यार जताती है उसको प्रिय परियाँ,
दलित कर रही है सुललित चरणोंसे—
कलित कुन्द-कुसुमोंकी कोमल-कलियाँ।



चन्द्र विभासित शुभ्र मेघ शय्यापर—लहराती है बाला,
विधुर अधरके तरुण करुण कम्पनसे—
पल-पल पुलकित करती है चुम्बनसे,
चुन-चुन ओस-कणोंको तरलित वनमें
कब मुझको पहनावेगी वरमाला?



विजनवती

कहाँ गई वह कल-कलोलिनी
मुझको बतलायेगा कौन ?
मेरा मधुकर-पुञ्ज-गुञ्जरित
मञ्जुल कुञ्ज आज है मौन।

वह मद-कल विलोल विह्वलता,
वह विलासमय कल-उल्लास,
वह उद्वेल तरङ्गित रोदन,
वह प्रभात का कम्पित हास,

वह सरिता की ललित कलित गति,
सागर का फेनिल कल्लोल,
उपवन की वह मृदु मादकता,
कानन का मर्मर-हिल्लोल,

मधु-आसव से गन्ध-विधुर वह
मलयानिल का मदिरोच्छ्वास,
उच्छल-फेनिल-जलधि-विलोडित
पुरवैयाँ का सजल उसास,

इन सब द्वन्द्वों का विलास अब
न कर सकेगा मुझको श्रान्त,
गहन विजन मे बैठा हूँ मैं
एकाकी, विरही, विभ्रान्त।

कभी अकारण फूट फूटकर
रोती थी मेरी प्यारी,
कभी छोडती थी निर्जन मे
हर्ष-उल्लसित किलकारी।

उमड उमड घन-अश्रु घुमड जब
आँखों को करते थे म्लान,
दमक दमक तब चपल दामिनी
उनको करती थी द्युतिमान।
हाय! यही पर्वत-निकुञ्ज था
उस कपोतिनी का अधिवास,
विकल कलित-कूजन से उसके
बन लेता था सकरुण साँस।

जिस प्रशान्त शारद-सन्ध्या में
पाया मैंने पहली बार
मायाविनी विजन-बाला का
अविज्ञात वह पागल प्यार,
उस सन्ध्या की शान्त नीलिमा,
उस सन्ध्या का स्वर्णिम राग,
हाय! जगा देता है हिय में
चिर-अतीत स्मृति-का अनुराग।

बैठी थी वह स्तब्ध विपिन में
एकाकी, चिन्तित अनजान,
किस चिर-परदेसी का मन में
करती हुई न जाने ध्यान।
उछल उछल पडता था उसके
अङ्ग-अङ्ग में नव-यौवन,
बिखरे पडते थे पीछे से
उसके कुञ्चित केश सघन।

झूम झूम पडती थी आँखें,
पर उत्सुकता से थीं पूर्ण,
उसकी वह विह्वल उत्सुकता
करती थी मम हृदय विचूर्ण ।

दूर कहीं से होता था तब
उत्थित कुररी का क्रन्दन,
कानन-मर्मर में होता था
ध्वनित विश्व का हृद्-स्पन्दन ।

सान्ध्य-गगन को चूम चूम रवि
विदा हुआ हो अस्तगमित,
उस चुम्बन के अरुण लाज से
करुण मेघ भी था रञ्जित ।

चिन्तित कुञ्चित-सी बैठी थी
विस्मृति में निमग्न बाला,
लिये केतकी-कण्टक कर मे
पहने मालतिका-माला ।

किस अविदित विस्मित विषाद की
रेखा से था वह मुख श्रान्त ?
पहुँचा उसके निकट मुग्ध मैं
त्रस्त, भीत, सम्भ्रम-सम्भ्रान्त ।

मुझे देख वह चकित रह गई
उत्सुकता से आँखें खींच,
दो प्राणी हम मौन हो रहे
भीषण स्तब्ध विजन के बीच ।

अकस्मात् आँखों से उसकी
टूट पडी अविरल जल-धार,
खडी हो गई, मुझको उसने
पहनाया फूलों का हार।

कण्टक-दल को उसने गूँथा
कुञ्चित अलक-जाल के साथ।
थाम लिया मैंने धीरे से
उसका कोमल कम्पित हाथ।

अपने शून्य सदन में लाया
कितने वन-पर्वत कर पार,
प्राणों से की उसको पूजा,
जीवन-धन सब किया निसार।

स्पन्दित - तारक - रश्मि - विभासित
रहता था जो कुञ्ज-भवन,
उसे छोड वह स्तिमित दीप से
झिलमिल गृह मे हुई मगन।

कुछ दिन तक क्रीडा-कौतुक-युत
चला हमारा हास-विलास,
उस कपोतिनी की आँखों में
कम्पित हुआ सुकात प्रभास।

त्रस्त, भीत, अति-चकित, अजिन्
उस बाला का मन जीत लिया,
वह इस चिर-विषादमय गृह के
अधिवासी की बनी प्रिया।

❀ ❀ ❀

हाय ! अचानक पाया मैंने
उसके मन मे परिवर्तन,
उसके भीतर चला अजानित
झटिका का घूर्णित नर्त्तन ।

लगी छटपटाने पिञ्जर मे
वह विहगी हो अन्यमना,
सजल जलद-सी हो गम्भीरा
छोड दिया उसने हँसना ।

फिर विषाद की चिर-विभीषिका
हुई प्रकट ले उग्र स्वरूप,
घन-तमिस्र-पुञ्जित हो आया
फिर चिर-अन्धकारमय कूप ।

उसको फिर से आकुल करने
लगी विजन की छवि-छाया,
तारक की कम्पित किरणों के
करुण-विकीरण की माया ।

अपना चिर-अधिवास छोड कर
बाहर चला उसे ले सङ्ग,
देखा कूलहीन सागर का
अति भीषण विस्तार उलङ्ग ।

निविड निशा के गहन-तिमिर मे
सागर का कल रोदन-रोर,
सुनकर उन निर्मम प्राणों मे
उमडी गद्गद-हर्ष-हिलोर ।

विरल-पुलक से आकुल होकर
उमग पडा उसका आनन्द,
तरल तरङ्गों से तरलायित
हुआ हाय! मै भी सकन्द।

सागर के ढिग विजन प्रान्त मे
दोनों करने लगे निवास,
पर उत्सुक करती थी मुझको
निर्वापित दीपक की वास।

हाय! शून्य मे लीन हुई थी
मेरे गृह-प्रदीप की जोत—
निश्चय ही करता होगा अब
वहाँ प्रकाश मूढ खद्योत!

❀ ❀ ❀

मम जीवन के नवल प्रात मे
स्वप्न-तरङ्गिम रङ्ग अपार,
मुझे कराता था उमङ्ग से
निखिल निलय मे विपुल विहार!

कभी महा जीवन का मन में
उमगा पडता था वेदन,
कभी स्नेह की अति प्रशान्त छवि
हाय! जगाती थी चेतन।

कभी नही सोचा पर मैने
होगा यह निर्जन-निर्वास—
मुझे करेगा मुग्ध विधुर उस
अथिरा का क्रन्दन-उहाम।

विवश छोड़ना पड़ा मुझे मम
सुख-स्मृति-पूरित गृह प्राङ्गन,
मुझको करने लगा थकित वह
सुकठिन-कोमल आलिङ्गन ।

सञ्चित करने लगा हृदय मम
अम्बुधि का रोदन अज्ञात,
भरने लगा आह मानस में
उच्छल-उर्मि-विकम्पित वात ।

वर्ष-वर्ष पर वर्ष बीतकर
युग पर युग भी बीत चला,
पर सागर का सुखद क्रोड वह
छोड़ न सकती थी चपला ।

हुआ अन्त को लव लव करके
सञ्चित सघन सपुञ्ज रुदन,
बहने लगा उच्छलित होकर
उसका उद्वेलित प्लावन ।

वेला के फेनिल उसास से
फूला उसका वक्षस्थल,
आह व आँसू के प्रवग से
हुए हाय ! दोनो विह्वल ।

गिरि-निकुञ्ज के निभृत नीड़ का
ध्यान उसे फिर हो आया,
फिर उन्मनी बनी वह बाला,
होने लगी क्लान्त काया ।

केसर-चम्पक, जुही-केतकी
आदि कुसुम-दल का सुचयन ।
उसकी स्मृति में हुआ जागरित,
हुए सलिल से सिक्त नयन ।

छोड पुलिन की सैकत-माया
पुन चली पर्वत की ओर,
हुआ हाय ! मैं भी अनुगामी
धर कर उसका अञ्चल-छोर ।

फिर सुनने में आया उसका
पर्वत में कीलित कूजन,
पुन कल्लोलित हुआ हर्ष से
पर्वत का नि स्पन्द विजन ।

पर मेरा वह चिर-निर्वापित
दीपक बला न किसी प्रकार,
मेरे क्रन्दित अन्तस्तल में
मचा प्रलयकर हाहाकार ।

करने लगी मुझे नित शोषित
अन्तहीन निर्जन की भीति,
छोड नहीं सकता था पर मैं
उस विमना बाला की प्रीति ।

जीवन-गति मम निर्विचित्र थी
पर न गई मम उत्सुकता,
मेरे विद्रोही विषाद से
हाय ! गई वह भी उकता ।

दिन दिन मुक्तासम अनुपम द्युति
होने लगी म्लान, अति शीर्ण,
उसकी वह सम्लान कान्ति नित
करती थी मम हृदय विदीर्ण।

सागर में सञ्चित वह क्रन्दन
दोनों का फिर उमड चला,
चिर-विच्छेद-भरी शङ्का से
मुझे जकडती थी अनला।

अपनी दो कोमल बाहों से
मुझको गले लगाती थी,
भावी की चिर-विरह-वदना
हिय में हाय! जगाती थी।

धीरे धीरे पुष्पवास-सम
वह तो होने लगी विलीन,
व्याकुल उत्कण्ठा से मैं भी
छिन-छिन होने लगा मलीन।

कुररी ने अपने क्रन्दन में
मिलित किया उसका रोदन,
वन कपोत ने भी अपनाया
उसका वह मन्द कल कूजन।

निर्झर के झर्झर प्रपात ने
सीख लिया उसका सङ्गीत,
वनस्थली मां लगी चुराने
उसका सुमधुर स्वप्न पुनीत।

मधु-ऋतु ने भी छीना उसका
लीलामय लावण्य विलास,
हा! निदाघ भी छीन ले गया
उसका तेजोद्दीप्त प्रकाश।

पावस ने भी हर ली उसकी
अश्रु विलोडित जल-माया,
शरत् लगा करने शोषित उन
आँखों की शान्तच्छाया।

हिम ऋतु ने अपनाया निर्मल,
शुभ्र, शीत नीहार-समान,
उसका निष्कलङ्क, अति उज्ज्वल
हीरक-सम चरित्र अम्लान।

भरी शिशिर ने निज वशी में
उसकी सकरुण ठण्डी आह,
ऋतुओं की हिल्लोल-प्रगति में
उसकी गति का चला प्रवाह।

मेरे मानस की कल हसी
स्वच्छ सलिल कल-कन विसार,
भर उडान चल पडी लूटने
महाकाश का विपुल प्रसार।

वह अदृश्य हो गई अचानक
छोड गई अपना अवसाद,
भ्रान्त, चकित सा रहा ताकता
मै वन में होकर उन्माद।

अपनी इच्छा की बलि देकर
किया प्रकृतिमय अपना प्राण,
अलसित अकर्मण्य हो बैठा
उस पर्वत वन में म्रियमाण।

तब से प्रकृति खिलाती है नित
मेरे मन में नव-नव रङ्ग,
करता हूँ मै ग्रहण उन्हें अब
मौन-भाव से हो निःसङ्ग।

इच्छावर्त्त-रहित होकर जब
मानस बना शान्त-निर्मल,
रूप-रङ्ग प्रतिबिम्बित उसमें
होते है अकलुष, अविकल।

अप्रल, १९२७



राजकुमार

वह था राजकुमार दुलारा, प्यारा,
छैल-छबीला, भोला था, अलबेला,
सारे जग से था वह क्योंकर न्यारा?
निखिल विश्व में क्यों था हाय, अकेला?

चन्द्रकांत मणि की फुलझड़ियाँ शीतल
हिम के फानूसों पर नित्य चमकती,
पुण्य-प्रकाश तुषार-शिखाएँ अविचल
स्तम्भों मे निष्कंप, निवात झलकती।

हिम स्फुलिंग-कणिकाओंका फौवारा
शुभ्र फलकपर फुहराता था झर-झर,
यन्त्र-विनिर्गत, रजत-भास हिमधारा
लहराती उस माया-गृह के भीतर।

विपुल काल तक विमल तपन की माया
उसे निरन्तर करती थी आलोकित,
दीर्घ अवधि तक निखिल-तारका-छाया
स्निग्ध भास से करती उसको पुलकित।

दीर्घ समय मे एक बार खिलती थी
उषा की लाली उस परी-भवन मे,
एक बार झिलमिल-झिलमिल हिलती थी
कनक-झलक सध्या की उस दरपन मे।

समय समयपर ज्योत्स्ना लहर-लहरकर
हिम-महिमापर शात छटा फैलाती,
उस मायाकी मूर्च्छा सिहर-सिहरकर
शुभ्र विजनको करके मगन सुलाती।

राजभूमिम उस अखड शोभाकी
राज-किशोर मगन-मनसे रहता था,
छटा विभासित करके आत्म-विभाकी
शुभ्र भासमे मन्द-मन्द बहता था।

उस कौमार-हृदयमें उस ज्वाला की
हलकी-सी भी आँच नहीं आती थी,
सारी माया उस तुषार-बालाकी
चूर-चूर हो बिखर-बिखर जाती थी।

निर्विकार, निर्लेप तुषार-भवन-सा,
रूप-रगसे हीन कुमार-हृदय था,
सीरी-सीरी, शीत हिमाद्रि-पवन-सा—
वह किशोर हिम-प्रस्तर-सा निर्दय था।

नभ में कभी विलमकर दीर्घ समयमें
उसे विकल करती ऊषाकी लीला,
कनक-हास बिम्बितकर कभी हृदय में
उत्सुक करती सन्ध्या करुणाशीला।

लय हो जाती पर वह रजित माया
विफल, क्षणिक अस्पष्ट स्वप्न-सी तत्क्षण,
पुन विभासित होकर शातच्छाया
विमल हृदयमें करती प्रतिपल विहरण।

एकरूप प्रतिबिम्बित था उस मनमे
प्रतिभासित थी हाय, एक ही ज्योती,
शून्य हृदयके उस निस्पद विजनमे
अलस शान्त थी भूम-भूमकर सोती।

कोई तृष्णा नही, न कोई आशा,
पूर्ण-कुम्भ-सा राजकुमार मगन था,
स्थिरालोक था उन नयनोंमे भासा,
निखिल-शातिमय निर्मल आत्म-गगन था!

धीरे धीरे मधु में [illegible]
[illegible] मग्न [illegible] [illegible],
मधु [illegible] उस [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
निशिदिन [illegible] [illegible] हुआ पीरा,
मृदु [illegible] [illegible] [illegible] शोभित,
[illegible] निकल मानस-सरसीरा—
[illegible] [illegible] पर हुआ [illegible] शोभित।

शुभ्र [illegible] लगा इन्द्रधनुषी
रंजित होने लगी दिशा [illegible],
मास [illegible] मधुर [illegible] जिसकी
लगा डालना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
टूट-टूट जिस मायापुरी लिप्सा
उस नीहार हृदयको लगी गलाने ?
जिस निशा मायाकी कल्पना-भिक्षा
उसको व्याकुल करके लगी रुलाने ?

मृगमदकी मृदु-सौरभ-सुरभित श्वासा
हुई उच्छ्वसित किस आकुल मृग-मनमें ?
मृगतृष्णाकी अथाह अनन्त पिपासा
भरी वेगमें मदन-निपीड़ित प्राणे।
हुआ हाय, वह नाद हंस सा चंचल
पग पुलकोमल लगे पड़ना फिर फिर,
तन तुषार-मालाओंसा हिम अचल
हुआ रत्न छायाके हित वह अस्थिर।

रोई परियाँ, रोई बिलख-बिलखकर
विरह बावरी हुईं हाय, व बरबस,
चिर-वियोगकी ज्वाला सुलग-सुलगकर
लगी गलाने जीवन, यौवन, सरबस।

हुआ श्वेत नीहार-भवन भी विगलित
तप्त आहसे उन विह्वल परियोंकी,
अन्तर्धान हुई शोभा वह सुललित
चन्द्रकांत मणि खचित फूलझडियोंकी।

❀ ❀ ❀

चला पथिक वह अनमन, विकल, उदासी
मृगके सौरभका करके अनुधावन,
वाष्प विकल आँखें वे उत्सुक, प्यासी
जीको लगती थीं कैसी मन-भावन!

जुगनू ज्योति जलाकर जगमग जगमग
उसको पथ सुझाते थे इंगितसे,
नक्तोषधिकी शिखा—पवनसे डगमग—
मग आलोकित करती किस रंगतसे!

गिरि उपत्यकाकी छायामें घन घन
चलता था वह इठलाके, बल खाके,
कितने ही वन पर्वत करके लंघन
पहुँचा वह सीमा-तटमें अलकाके।

मरकत मण्डित स्वर्णिम पर्वत-स्तनपर
सन्ध्याका स्वर्णांचल लोट रहा था,
मुक्ता-जलसे कंचन पद सिंचनकर
गिरि-गह्वरसे निर्झर फूट रहा था।

तनी हुई थी उसके तनकी तनिमा,
कल-उल्लसित विभा उसकी विलसित थी,
श्याम कुंज-सम सघन दृगोंकी घनिमा
किस रससे सरसाकर मृदु-अलसित थी ?
मोर-पख सम केश-गुच्छकी वेणी
नागन-सी थी लहर-लहर लहराती,
स्फटिक लडी-सी निर्मल दतश्रेणी
निर्झर शीकर-सी झर झर छहराती।
देखा उसने राजकुँवर परदेसी,
देखा उसका मोहन रूप निराला—
उत्सुक आँखें थी वे विस्मित कैसी !
निखिल विश्वको करती थी मतवाला।
शुभ्र कांति वह नव नीहार-पतन-सी,
रूप हिमाद्रि-रजत-सा स्वच्छ, सुशीतल,
आँखोंकी वह छाया तुहिन रतन-सी—
देख-देखकर हुई हाय, वह विह्वल।
अलकामें वह निरुपम रूप विमोहन
कभी किसीने कहीं नहीं था देखा,
विचित्रित थे बालाके दोनों लोचन,
खडी रही वह चित्र-लिखित-सी रेखा।
भूल गई वह मणि-गोपनकी क्रीडा,
भूल गई उज्ज्वल जलकी कल-लीला,
मुखमें छाई अननुभूत नव-व्रीडा,
छाया आँखोंमें विषाद क्या नीला !

"हाय प्रवासी ! क्यों हो तुम एकाकी ?
क्यों विषादसे म्लान तुम्हारा मुख है ?
तुमको चाह हुई है किस मदिराकी ?
विमल हृदयमें छिपा कहो क्या दुख है ?

"मैं भी हाय ! अकेली हूँ, अलबेली,
सूना मेरा रंजित रंग महल है,
नहीं सखा है कोई, नहीं सहेली,
नहीं वहाँ किंचित् भी चहल पहल है ।

"नव प्रभातमें वापीके तट जाकर
स्वर्ण कमलसे मैं क्रीडा करती हूँ,
नीलकान्त निभ जलमें नहा-नहाकर
मरकतमय सोपानोंमें चढ़ती हूँ ।

"सन्ध्याको नित सुरभित सरित पवनमें
विद्रुम-खचित बजाती हूँ मृदु वेणू ।
विदलित करती हूँ नित विपुल पुलिनमें
मणि-गण-रंजित चरणोंसे स्वर्णिम रेणू ।

"स्तब्ध निशामें रत्न-प्रदीप जलाकर
मोर-पखकी शय्यामें सोती हूँ,
दिनकी क्रीडा जनित थकान भुलाकर
स्वप्न-जगत्‌में हँस हँसकर रोती हूँ ।

"विजन-वासका मुझको दुःख नहीं था,
कभी किसीकी चाह नहीं थी मनमें,
किसी व्यथाका परस न हाय, कहीं था,
नहीं विकलता किसी पुलककी तनमें ।

"आज तुम्हें देखा क्यों नदी किनारे ?
कैसी व्याकुलता मेरे मन छाई !
मुझे रुलाया क्यों परदेसी प्यारे ?
कैसी आग हृदयमें यह सुलगाई ?

"आओ, प्यारे ! आओ, पीतम ! आओ,
निशिदिन मेरे हियमे करो बसेरा,
व्याकुल चितवनसे नित मुझे रुलाओ,
गलित करो मणि कठिन हृदय यह मेरा ।

"ले जाकर मणि-रंजित रंग-महलमे
तुम्हे छिपाऊँगी पुलकित पलकोंसे,
फँसा-फँसाकर निज कोमल अंचलमे
बाँध-बाँध लूँगी आकुल अलकोंसे ।

"बहुरंगे स्वप्नोंकी मणिमय माला
पहनाऊँगी निर्मल वक्षस्थल पर,
पी-पी पिला-पिलाकर रंजित प्याला
भासित होऊँगी तव अन्तस्तल पर ।"

  

चला कुँवर उसके सँग स्वर्ण-सदनमें,
देखी मणि-आलोकित उसकी शोभा,
दीप्त छटा भासी उस रजत-वदनमें
इन्द्रधनुषकी छायासे मन-लोभा ।

वापीके तट रत्न-कुसुम-पुंजोंमें
गूँज रहे थे अलि कलियोंके भीतर,
इन्द्रनील-जल-सिंचित मणि कुंजोंमें
कूज रहे थे कल-कपोत, तर-तीतर ।

स्तम्भ स्तम्भमें थे क्या रुचिर-विराजित
स्फटिक-विनिर्मित, स्वर्ण-विमण्डित दर्पण !
उनपर निज प्रतिबिम्ब देखकर मोहित
बाला करती अपना यौवन अर्पण।

कक्ष-कक्षमें सुन्दर सज्जित होकर
स्वर्णप्रभ विद्रुम-पर्यंक पड़े थे,
मोरोंके पर बिछे हुए थे उनपर,
स्थान स्थानमें रंजित रत्न जड़े थे।

स्वर्णसिंहके मुँहसे स्फटिक-फलकपर
विविध रत्नमय बूँदें छहर रही थीं,
उस अनुपम फव्वारेसे फुहर-फुहरकर
बहुरंजित धाराएँ लहर रही थीं।

उस रत्नच्छायाकी माया अनुपम
राजकुँवरके मनको लगी रँगाने,
उरका सम अलकाका सस्मित विभ्रम
मगन हृदयको जगमग लगा जगाने।

राजकुँवरका मन वह प्यारी तरुणी
भोली-भोली बातोंसे बहलाती,
फैलाकर अपनी माया मन-हरणी
विविध वर्णमय जलसे नित नहलाती।

उजले मुखमें बिजली चणिक जलाकर
विभ्रम झलकाती अलकाकी ललना,
कभी कुँवरका कोमल हृदय गलाकर
छलछल छलकाती नयनोंमें छलना।

रुनझुन-शिंजित, रंजित वलय बजाकर
कभी मोरको अथिरा थिरक नचाती,
अलस लाससे उसको लजा लजाकर
राजकुँवरके मनमें रंग मचाती।
विगलित होकर हुआ हाय, वह पागल,
क्या विलास उन्मादक रँगा नयनमें!
चिर-यौवनका मुक्त प्रवाह अनर्गल
हिल्लोलित हो उमगा स्वपन, शयनमें।
बीच-बीचमें कभी जाग पड़ती थी
स्नेह-स्मृति वह निज किशोर-जीवनकी,
परियोंकी वह प्रीति विकल करती थी,
शुभ्रच्छाया शीत तुषार-भवनकी।
वह स्मित-छाया किन्तु उसे लगती थी
दूर-दूरकी विस्मृत स्मृति-सी निष्फल,
क्या तृष्णा अब उस मनमें जगती थी!
बरबस कर देती थी विह्वल, चंचल।
नन्दन-वनकी पवन मलय मद-दलनी
उसके मनमें हहर हहर हहराई,
विकल पिपासाकी क्या आशा छलनी
तप्त हृदयमें गहर-गहर गहराई!
मत्त मतंग-समान झूमकर सत्वर
मदस्रावसे बौराकर इतराया,
यौवनकी कलिकाका स्वर्णिम केसर
उसके मनोगगनमें था छितराया।

दोनों ही निर्द्वन्द्व, भविष्य विस्मृत थे,
मदन-मत्त थे, नव-नव रंग विलासी,
प्रतिपलका रस चखनेको उत्सुक थे,
नव-यौवन-ज्वर-विधुर, सदा-उल्लासी।

मग्नालस हो एक-अपरके सँगमें
करते थे आनन्द रँग-रस-सृजन,
वर्षों तक वे रमे रहे इस रँगमें,
बहुत दिनों तक चला सकूजन गुञ्जन।

❀ ❀ ❀

धीरे-धीरे एक कालिमा छाया
लगी हाय, दोनोंके मुँहमें छाने,
अवश हुई लालस-रस-विजड़ित काया,
कलुषित यौवन-वल्ली लगी कुम्हलाने।

हृदय हुआ निर्जीव, विगत मदन-ज्वर,
स्तब्ध हुआ चंचल जीवन उच्छृङ्खल,
अथिर अधर मदहीन, श्रान्त गीतस्वर,
ढका भस्मसे धूम्रहीन मदनानल।

विदलित कनक-कमल-दल हुआ कलंकित,
मरकत शैवल मलिन, स्फटिक-जल पंकिल,
किस भयसे मणि-भवन हुआ आतंकित?
राजकुँवरका हृदय हुआ क्यों शंकित?

अलका-बालाकी मणि-रश्मि माला
तप्तागार-समान हुई प्रज्वलित,—
कीलित करने लगी नरककी ज्वाला,
लेलिहान रसनासे हुई विलोलित।

सौरभ-मय नि श्वास हुआ वह विषमय,
रोम-रोम जर्जरित हुआ स्पर्शनसे,
लुप्त हुआ नयनोंका सकरुण विस्मय,
दहल उठा दिल गलित रूप दर्शनसे।

हुई किरकिरी स्वर्ण-रेणुकी रंगत,—
तुच्छ धूलि-सी उडने लगी गगनमें,
कनक-शैलकी दीप्ति हुई अस्तंगत,
क्या फुफकार मची तटिनी-नागनमें!

जगी लालसा मनमें अब क्रन्दनकी,
राजकुँवर पर हाय, न रो सकता था!
सुदृढ पडी थी डोर विरस बंधनकी,
कारागार-समान जगत् लगता था।

नव किशोर-वयके कुसुमोंका दोना
उलट पडा था, छिन्न हुई थीं लडियाँ,
नये सिरेसे चाहा हाय, पिरोना,
किन्तु नष्ट हो जाती थी पखडियाँ।

स्फटिक हर्म्यकी वह हिम-मंडित महिमा,
शांत भास मय तरलित ज्योति प्रभाती,
हिम-बालाकी परम प्रीतिमय प्रतिमा—
मनमें बिम्बित होते ही मिट जाती।

छटपट करता था मन उसका प्रतिपल
उसी तुषारालयमें लय होनेको,—
बहु-रंजित मायाका तजकर अंचल
शुभ्र-रूपके चरणोंमें रोनेको।

लगी लगन, तोडा सोनेका शृङ्खल,
मुक्त हुआ वह राजकुँवर बधनसे,
हाय, उडा वह पक्षी होकर चचल,
हुइ स्फूर्ति सचारित हृत्-स्पदनसे।
रोई बाला, रोई, व्याकुल रोइ,
फूट-फूटकर खा पछाड वह बिलखी,
था न वहाँ मन समझानेको कोई,
लीन हुई निर्जनमे आहें दिलकी।
चला कुँवर वह तजकर मणि-मायापुर
चिर-नूतन नीहार-प्रदेश-दिशाको,
भूल गया पर मार्ग, हुआ वह आतुर,
भटका दिनमे, रोया नित्य निशाको।
कभी गहन गह्वर-युत गिरके ऊपर,
कभी कटकाकीर्ण विपिनमें जाता,
लुप्त हुआ चिर-परिचित पथ वह क्योंकर।
लाख स्मरण करनेपर याद न आता।
वज्र शापकी जडता थी वह कैसी।
विवश हुआ क्यों कुँवर दुलारा, प्यारा ?
व्याकुल करणासे वह चिर-परदेसी
अब तक भटक रहा है मारा-मारा।

जुलाई, १९३१



तारा

आज मृत्युकी उत्सवमयी निशामे
मरने दो, मरने दो मुझको भाई !
इन्दु-किरण-करुणासे सकल दिशामे
देखो, कैसी पुलक-वेदना छाइ !
नील गगनमें फैलाकर निज अँचरा,
गूँथ-गूँथकर तारक-चयका गजरा,
प्यारी मृत्यु बनी है कैसी रुचिरा !
उसकी छवि मम नयनों में अलसाई !

देवदारु-द्रुम के मर्मर-दोलन से
होता है यह किस देवीका बीजन ?
गिरि-निर्झरके झरझर सलिल-पतनसे
होता है किस पद-पल्लवका सिंचन ?
ज्योत्स्ना लहर रही है करुणाशीला
देख-देखकर किसकी लहरी-लीला ?
यहाँ करेगा छैला कौन सजीला
जिसकी लाज-भरी गालोंको चुम्बन ?

झिल्लीगणने बजा बजा सहनाई
मन मेरा कैसा व्याकुल कर डाला !
मृत्यु-प्रियाने आज मुझे पहनाई
यह कैसी आश्चर्यमयी जयमाला !
रजनीगन्धाकी सौरभमय कलियाँ
इस उत्सव में करती हैं रँग-रलियाँ,
सब मिलकर मेरी प्यारीकी अलियाँ
बना रही है क्यों मुझको मतवाला ?

नीचे गिरिके पादमूलमें सरिता
रोड़ों पर इठलाती है, बल खाती,
किस रससे आकुल होकर कल-कलिता
उन्मद है, उच्छृंखल है, मदमाती ?
दूर-दूरसे उसका कल-कल गुंजन
करता है कैसे मेरा मन रंजन !
उसके जलसे होकर आर्द्र प्रभंजन
शीतल करता है क्यों मेरी छाती ?

भ्रांति ! भ्रांति है ! घोर भ्रांतिकी माया !
यह उल्लास है या विलाप है विह्वल ?
घनीभूत है घन विषादकी छाया,
गुंजित है सब ओर वेदना निश्चल ।
उमड़-उमड़ पड़ता है किसका क्रन्दन ?
पवन-वेगसे किसका वक्ष स्पन्दन
प्रकट कर रहा है आकुल आवेदन ?
कौन हुआ है विरह-व्यथासे बेकल ?

रो-रोकर, खाकर पछाड़ पड़ती है
इस सरिताकी तरल-तरंगित धारा,
कल-कल स्वरसे कानोंमें कहती है—
"कहो कहाँ है आज तुम्हारी तारा ?
कहाँ छिपी है वह आँखोंकी तारा ?
कहाँ लय हुई तरल-अश्रु-कण हारा ?
किधर बह चली सरल-लास-रस-धारा ?
कहाँ गई है आज तुम्हारी तारा ?"

तारे करके अविरल अश्रु-विसर्जन
पुण्य स्मृतिमें अपनी प्रिया सखीकी
गगनांगनको करते है अभिसेचन,
आग बुझाते है वे अपने जीकी।
हा! तारा थी उनकी प्रिया सहेली,
करती थी नित उनके सँग अठखेली,
लोप हुई क्यों वह प्यारी अलबेली?
क्यों त्रिभुवनकी ज्योति कर गई फीकी?

कब तक मुझे रुलाओगी तुम प्यारी?
कब तक हिय में काँटा गडा रहेगा?
कहाँ गई वे विकल उमगें न्यारी?
कब तक मुझको दुस्सह दाह दहेगा?
कहाँ गई वह मृदु-मृदु पुलकित व्रीडा?
वह किशोर-जीवनकी सुखमय क्रीडा?
वे सब स्मृतियाँ उपजाती है पीडा,
कब तक मम नयनोंसे नीर बहेगा?

मुझे बताओ हे मम जीवनदाता!
कहाँ छिपी वह मूरत भोली भाली?
चिर-परिचित क्यों हुइ आज अज्ञाता?
नित्य-संगिनी कैसे हुई निराली?
दो दिन पहले जिसकी गुंजित भाषा
उद्दीपित करती थी नित नव आशा,
आज जगाकर जगकी हृदय-पिपासा
शून्य कर गई वह जीवनकी प्याली!

प्यारी तारा ! भूल गई हो क्योंकर
उस दिनकी वह सन्ध्या, शात-सुरजित ?
कुसुम-कुजके नीचे आश्रय पाकर
तन तमिस्र होता था धीरे पुजित,
अस्ताचलके स्वर्ण-रागकी सुषमा
तब विकीर्ण करती थी मधुर-मधुरिमा,
स्निग्ध-शात थी सुन्दर सन्ध्या-प्रतिमा,
साम-गानसे जग था मृदु-मृदु गुंजित।

चीड-द्रुमोंकी सघन-राजिसे होकर
गद्गद-स्वरसे निर्झर था कल-मुखरित,
शिलाघातसे मुक्ता-सम जल शीकर
बिखर-बिखर पडते थे चूर्ण-विचूर्णित।
घूर्णित होती थी जल-धारा फेनिल,
झूम-झूम-सा पडता था सन्ध्यानिल,
कूजन करते थे कपोत, कल-कोकिल,
कुररी-क्रन्दनसे वन था आक्रन्दित।

शिलाखण्ड पर तुम थी स्तब्धासीना,
मैं भी सन्न खडा था एक किनारे,
अन्यमना-सी तुम थीं प्रकृति-विलीना,
उद्दीपित थे विस्मित नयन तुम्हारे।
साध्य अभ्रके शुभ्र स्फुलिंग बिखरकर,
रँगकर धीरे रक्ताभासे नभपर—
छटा बढाते थे सध्याकी सुन्दर,
सज्जित थे सन्ध्याके भूषण सारे।

तारा

हुई प्रेरणा कैसी मुझे अचानक !
अकस्मात् क्या रूप तुम्हारा देखा !
हरण किये सध्याकी छवि मन-मोहक
शोभित थीं तुम अविकल-आकृति-लेखा ।
नयनोंमें थी नील-गगनकी छाया,
मुखमण्डलमें स्वर्ण-रागकी माया,
शुभ सेंदुरमें रक्त-मेघ था भाया,
बिखरे बालोंमे श्यामल वन-रेखा ।

विहगवृन्द नीडोंमें पाकर आश्रय,
भजन गा रहे थे करके कल-कूजन,
स्खलित कुंज-कुसुमोंसे मृदु सौरभमय
होता था क्या देवि ! तुम्हारा पूजन ?
जल-प्रपातके स्फटिक-सलिलसे निर्मल
धौत हो रहे थे पद-कमल सुकोमल,
दिक्-दिगन्तमें व्याप्त चरण-रज परिमल
स्तब्ध प्रकृतिमें फूँक रहा था चेतन ।

सभ्रमसे विभ्रात, भक्तिसे विह्वल
मैं विमूढ-सा होकर चकित, विमोहित—
झुककर पढने लगा तुम्हारे पद-तल,
लगा स्पर्श करने उनकी द्युति लोहित ।
मृदु-मृदु हास-सहित कर हस्त प्रसारण
परम प्रेमसे तुमने किया निवारण,
मेरा कंठ जकडकर सजनि ! अकारण
पेलव-लतिका-सम तुम हुई सुशोभित ।

धीरे-धीरे तिमिर गाढ़ हो आया,
पादपगणमें झींगुर उठे झनझन,
सघन हो गई श्यामवर्णा छाया,
विजन विपिनमें गूँज उठा हाहा रव।
हुआ भीतिसे त्वरित तव आलिंगन,
लगा सिहरने थरथर तुमको कम्पन,
लिया स्नेहसे तव ललाटको चुम्बन,
उमड़ा तब नयनोंसे अश्रु-उपवन।

अलकें अनिल-कम्पित किये विकीर्ण
स्पन्दित द्युतिसे हो-होकर झुलझुल
मृदु-हाससे सस्मित तारक-गण
दोनोंको तकते थे चिन्तित, व्याकुल।
मैं अनमन-सा था तारोंको गिनता,
तुम सोचती थी किस ओर चितवता ?
बिसर गई थी जग-जनकी सब चिन्ता,
बिसर गया था हमको भी मानव-कुल।

हास-छटा व्यंजित कर पूर्व-गगनमें
कृष्ण द्वितीयाका शशि हुआ विभासित,
रजत-शुभ्र ज्योत्स्नासे हुई विपिनमें
निर्झरकी फेनायित मदिरा रभसित।
कल्लोलाससे मार-मार किलकारी
कलित कठसे कूक उठीं तुम प्यारी,
अश्रु-म्लान मुख की छवि करुण तुम्हारी
पुन हुई उस शशि-मंडल-सम विकसित।

अर्द्धरात्रि तक विकल-केलिका कल-कल
सुप्त प्रकृतिको करता रहा सचेतन,
हृदय तरंगोंसे तव होकर चंचल
था अशांत वह नीरव शान्ति-निकेतन।
हिल्लोलित लीलासे पुलकित निर्जन
हिम-कणसे करता था अश्रु-विसर्जन,
भक्ति-सहित द्रुम करते थे पुष्पार्चन,
फहराया वन-वनमें तव जय केतन।

आज हर्षसे रोमांचित यह रजनी,
जगा रही है वे सब प्यारी स्मृतियाँ—
वह कैशोर-हृदयकी लीला सजनी!
पुलक-स्नेह-सिंचित वे दो-दो बतियाँ।
श्रान्त हो गया वह जीवन उच्छृंखल—
स्वर्ण स्वप्नकी वह स्वर्णाभा पिंगल,
प्रिय प्रभात, सन्ध्याएँ शांत, सुमंगल,
हुई शून्यमें लीन प्रीतिकी रतियाँ।

नहीं तुम्हें भाती थीं कोई सखियाँ,
केवल मैं था तव प्रिय सखा प्रवासी,
उत्सुक रहती थीं वे छलछल अँखियाँ
मेरे ही दर्शनके हित नित प्यासी।
किन्तु नहीं स्वीकृत था तुमको बन्धन,
उत्सुक करता था तव वक्ष-स्पन्दन
निरुद्देश्य होकर उड़नेको वन-वन,
किस तृष्णासे था तव हृदय उदासी?

राज रही हो आज कहाँ स्वाधीना ?
ढूँढ़ूँ तुमको प्यारी, मैं किस वनमें ?
महाकाशमें क्या तुम हुई विलीना ?
छिपी हुई हो अथवा मेरे मनमें ?
किस तारा-मण्डलकी बनकर रानी,
ओढ़े हो तुम क्या अम्बर असमानी ?
किस तुषार-मय वनकी शुभ्र हिमानी
बिछी हुई है तव सुकुमार शयनमें ?

रहकर निशि-दिन सजनि! तुम्हारे सँगमें,
पाकर प्रतिपल प्यारी, प्रेम तुम्हारा—
रँग न सका मैं तुमको अपने रँगमें
देकर भी अपना जीवन-धन सारा।
तुमको कभी न कर पाया मैं अपना,
लगता है सब इन्द्रजाल-सा सपना,
वृथा हाय! रोना है, व्यर्थ कल्पना—
झूठा था वह प्यार, स्वप्न थी तारा!

बिना पिलाये ही यौवनकी मदिरा
कहाँ उड़ चलीं तुम अस्पृश्य कुमारी ?
अन्तर्धान हुई हिम-कण-सी अथिरा,
बिन सींचे मम तरुण हृदयकी क्यारी।
आज भ्रष्ट है मेरा सारा यौवन,
तमसाच्छन्न हुआ है निष्फल जीवन,
व्यर्थ वसंत, वृथा मन-भावन सावन,
अर्थहीन है शरत्-निशा सुखकारी।

नव-वसंतका देख मदालस-लालस
सजनि ! तुम्हारा जी न कभी ललचाया,
सौरभ-रमसित ललित गुलाबोंका रस
विगलित देख तुम्हारा जी मचलाया,
मृदुल मल्लिका, लावनमयी चमेली,
लज्जा-नमित लवग-लता अलबेली—
हाय ! तुम्हारी रहीं न कभी सहेली,
मलयानिल था कभी न तुमको भाया ।

तड़िल्लताकी चलचित्र-सम रेखा
तुम्हें कटकित, पुलक-चकित करती थी,
होकर मगल-वर्षा-जल-अभिषेका
काश-कुसुम-शोभा तव मन हरती थी,
शरत्-गगनकी शान्तच्छवि सुमनोहर
लगती थी तव नयनोंको अति प्रियकर,
हिम-गिरि प्रेरित साध्य समीरण बहकर
तव थर-थर हियमें आहें भरती थी ।

मेरी थी तुम प्रिया, प्रकृति की जननी,
शुद्ध, शान्त थी मूर्तिमती तुम करुणा,
चिर-सगीतमयी थीं सुमधुर-स्वननी,
दु ख-ज्वाल पीकर थीं तुम चिर-अरुणा,
उज्ज्वल होम-शिखा-सम परम पवित्रा,
हिम-स्फुलिंग-सी स्वच्छ, शीत, अति शुभ्रा,
ऊषा-सम सिंदूर-सुरक्तिम-अभ्रा,
सन्ध्याकाश-समान विमुक्तावरणा ।

भूलूँ कैसे ? नहीं मानता है मन,
निखिल विश्व लगता है यह सब सूना,
हाय! लगा है प्रतिपल उसका चिंतन,
बढ़ता है यह वेदन दिन-दिन दूना।
उल्का-सम आई थी वह इस जगमे,
सौरभ-सी क्यों लीन हो गई मगमे ?
समा गई है यद्यपि मम रग-रगमे,
पर अदृश्य है मुखड़ा सहज सलोना।

आज मृत्युकी मंगलमयी निशामे
चिर-कुमार मुझको मरने दो भाई।
पूत-प्रभंजन-स्पन्दित सकल दिशामे
पुंजित पुण्य-प्रभा कैसी बिलसाई!
पुलक-प्रकंपित है कैसे यह धरणी!
लहरें लहर रही है जीवन-मरणी,
किधर वह चली मम उच्छृंखल तरणी ?
किस सागरमे इतराई, इठलाई ?

मेरे प्यारो! मेरी चिता सजाना
सरिताकी उस वेत्र-कुंज-छाया पर—
प्यारी तारा जहाँ सुना कल गाना
मुझे विकल करती थी आहें भर-भर,—
जहाँ निछाकर हरी दूबकी शय्या
परम स्नेहसे डाल-डाल गलबैंया
मिललाती थी कहकर—"भैया! भैया!"
मुझपर करती थी तन-प्राण निछावर।

रोओ कुररी ! रोओ तार-स्वर मे,
जपो निरन्तर—"तारा, तारा, तारा!"
झिल्लीगण ! झनकार करो अन्तरमे—
"तारा, तारा, तारा, तारा, तारा !"
निर्झर ! छोडो आँसूका फौवारा,
विजन ! तुम्हारा आज बजे इकतारा,
निकले उससे शब्द करुण यह प्यारा—
"तारा, तारा, तारा, तारा, तारा !"

अप्रल, १९३१



महाश्वेता

मूर्त्तिमती शुचिता-सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला ?
बजा रही हो वीणा रमझुम
पहने हो वनमाला ।
किस तापस की हो तुम तपती कन्या ?
मदनभस्म से रचित कौन हो धन्या ?
होमशिखा-सम उजली कौन अनन्या ?
किस वनदेवी ने तुमको है पाला ?
मूर्त्तिमती शुचिता सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला ?

कठिन नियम-चारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता,
शीतल तुहिन-कणों से मज्जित
वन मे हो आनीता ।
शान्त विजन मे बैठी हो तुम विजना,
कुन्दशुभ्र तुम हो प्रसून-दल-व्यजना,
कलित केतकी-वन-सी कण्टक-मग्ना,
हिम-सघात-शिला-सम हो तुम शीता ।
कठिन नियम-चारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता ।

अविरल - धारापात - सुमङ्गल—
वर्षाजल से स्नाता,
मुक्ता-सम उज्ज्वल अति निर्मल
तुम हो शरत्-प्रभाता।
तुहिन-सिक्त नव-कास समान पुनीता,
कुसुम-स्तबक-नत लता समान विनीता,
स्वच्छ, स्निग्ध हो सरस-विमल नवनीता,
कम्पवती हो शीतल उत्तर-वाता ।
अविरल - धारापात - सुमङ्गल—
लोचन-जल से स्नाता ।

किस सन्ध्या का स्वप्न झिलमिला
आँखों मे है झलका ?
किस प्रवेग से रहा तिलमिला
रोदन अन्तस्तल का ?
किस करुणा से व्याकुल है तव वीणा ?
सन्ध्या-छाया की माया म लीना
अस्तराग-सी होती छिन छिन क्षीणा
कैसे तुम अलबेली आकुल-अलका ?
किस सन्ध्या का स्वप्न झिलमिला
आँखों मे है झलका ?

बैठी हो शङ्कर-आलय मे
रुद्रा कौन कराला ?
तुम हो रङ्कित भीम प्रलय मे
ज्वालमुखी की ज्वाला ।
दीप्त हुताशन-सम अङ्गार उगलती,
वज्रपात से भीति भावना दलती,
तुम चिताग्नि सम रङ्गिणि ! नित हो जलती,
राज रही हो लिए हाथ मे भाला ।
बैठी हो शङ्कर-आलय मे
कौन भैरवी-बाला ?

जून, १९२७



नृत्य

नाचो ! नाचो ! महाकाल ! तुम खर-मध्याह्न गगनमे,
सूर्योज्वल अंगनमे ।
होकर गर्वित अपने दीप्त विजयमें—
नाचो रुद्र समुद्र-तालमे, निखिल सृष्टिके लयमे ।
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! उन्मद रससे पागल—
उच्छल-यौवन-चञ्चल,
पर यह भोली-भाली प्यारी निपट नवेली ललना
सरल लासमय तरल दृगोंमे छलका निश्छल छलना
पर्वत-पथके विजन प्रान्त मे सुन कपोत-कुल-कूजन
मद, हंस गतिसे जाती है करने शिवका पूजन,
सरल, मधुर विश्वास भरा है तरुण, करुण नयनोंमे,
लज्जा-रक्तिम लास खिला है हस्तास्थित सुमनों मे,
स्नेह-प्रेम-रस प्रतिपल उसके मधुमनमे सिंचित है,
निखिल चक्रकी वक्र-प्रगतिसे नहीं तनिक परिचित है,
ब्रह्म-सत्य-सम निश्चित समझे बैठी है निज यौवन,
परम-तत्त्व सम नित्य समझती है निज पतिका जीवन,
मोहाच्छन्न हृदयको उसके मै कैसे समझाऊँ ?
चिर-जीवन की तृष्णा उसकी कैसे हाय, बुझाऊँ !

नाचो ! नाचो ! अमानिशाके महाकाश मडलमे,
लयङ्करी लीला दिखला पल-पलम ।
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन ।
अन्ध सृष्टिके रध्र-रध्रमे जगे वषट्र चेतन ।

तुम तो नाच रहे हो प्यारे! वसन कराल पहन कर —
अगणित सूर्योंकी मालाकी ज्वाला नित्य वहन कर,
पर यह देखो, करुणा-विह्वल माता विकल शयनमे
घन-निद्रारत, परम दुलारे शिशुके कोमल तनमें
फेर-फेरकर हस्त पुलकप्रद, स्नेह वेदना-व्याकुल—
रह-रह होती है अविजानित आशकासे आकुल,
उसकी यह उद्दाम वेदना कैसे हाय, भुलाऊँ ?
किस मायासे उसका शकित, कपित वक्ष सुलाऊँ ?

नाचो! नाचो! भैरव!

निखिल नियमके रोम-रोममें मचे व्योममय ताण्डव!
गर्जित होओ सुदृढ वज्र-सम मेरे नग्न हृदयमे,
हँसो ठठाकर अट्टहाससे तुग तुषारालयमे।
हिमखडोंके भीम-पतनसे, वज्रमयी क्रीडासे
तुम होते विक्षोभित जीवन-मृत्युमयी पीडासे,
पर यह देखो, निखिल विश्वके मानव आर्त रुदनसे
किस निष्ठुरसे भिक्षा चाह रहे है शीर्ण वदनसे!
वज्रकोपसे, रुद्रशापसे जन्मावधि है पीडित,
कठिन नियमके पेषणसे है निशिदिन त्रस्त, विताडित,
नहीं शक्ति जीनेकी उनमे, नहीं चाह मरनेकी,
ज्ञानहीन पशु-सम चिन्ता है क्षुधा शात करनेकी,
उनके दुर्बल, भीरु हृदयको कैसे सबल बनाऊँ ?
मस्तक ऊँचा करनेका क्या जीवन-मत्र सुनाऊँ ?

नवम्बर, १९३१



सांध्य-विलाप

सोई है यह निर्मल नग्न गगन में
कैसी नील निराशा !
अस्ताचल में किसके गलित नयन मे
झलकी विकल पिपासा ?

शांत, धीर यह चिर-गंभीर हिमाचल
करुण कांति से रंजित—
चिर-निर्वाणमुखी ज्वाला-सम पिंगल
है निःशब्द विराजित ।

अस्तगमित रवि के अंतिम चुंबन से
रक्त मेघ है लज्जित,
वन है पुंजित वेदन के स्तंभन से
घन - आतंक - निमज्जित ।

स्तब्ध शून्य को करके चकित, विकंपित
यह चंचल काकाली—
किस रहस्य-पट मे करती है अंकित
रेखा काली - काली ?

सरपत की सर्पित छाया से होकर
निर्झर की खर - धारा
रोती है खा-खा पछाड़ पत्थर पर—
धवल - फेन - कण - हारा !

देवदारु के मर्मर से निःश्वासित
व्याकुल संध्या - ललना
भरती है क्या आहें शीत, सुत्रासित—
छलका दृग मे छलना ?

हो हताश वह किस असफल आशा से
है विषाद मे मग्ना ?
व्यजित करती है थरथर भाषा से
हृदय विकंपित अपना !

हाय, सखी सध्या ! क्या गोपन वेदन
अपने नीलाचल में—
नित्य छिपाये रहती हो क्या क्रन्दन—
विह्वल अस्ताचल मे ?

स्निग्ध, करुण, नीरव तव परिणत यौवन
है क्यों विगलित-लालस ?
किस अतीत स्मृति से उन्मन तव जीवन
है तद्रित, निद्रालस ?

बिता दिया किस अरुण देव के सँग में
उन्मद यौवन अपना ?
झूम रहा है आज हाय, रग-रग में
वह अलसाया सपना ।

निखिल शून्य के किस निर्जन आगन मे
था आवास तुम्हारा ?
महाकाल के किस शुभ, शात लगन मे
पाया प्रणयी प्यारा ?

आज हुआ लय चिर-निर्वाण-निलय में
वह अलबेला पागल,
स्तब्ध हुए किस वज्र-तुषारालय मे
लोलित दृग वे चचल ?

तव चिर अविजानित प्रेमिक के शव पर
हिम-गिरि-शिखर सगौरव
सजा-सजाकर शुभ्र, श्वेत हिम-प्रस्तर
है समाधि-सम नीरव।
करती हो तुम उस समाधि को रंजित
अपनी करुण विभा से,
क्षणिक झलक उठता है क्रंदन पुंजित
इन्द्रधनुष - शोभा से।
उस समाधि के हिम-शीतल पदतल में
अश्रु-सिक्त तव लोचन
देवदारु-छाया के श्यामाचल में
करते हैं जल-सेचन।
सज्जित करके चिर-विश्रान्त विजन में
सखि, तव वैधव - शय्या
तुम्हें रमाती है किस अमित भजन में
मृत्यु—तुम्हारी मैया ?
अस्ताचल के गलितानल अंबर से
जलती है तव धूनी,
दीपित होती सन्ध्या-तारक-कर से
कुटी तुम्हारी सूनी।
आदि सृष्टि-धारा के पावन तट पर
तुम अलबेली जोगन
मौन ध्यान से निखिल विश्व का अंतर
करती हो अवलोकन।

मृत्युलोक के मंगलमय निर्जन में
स्थापित तव पुण्याश्रम
हाय, जगाता है क्यों मेरे मन में
निशिदिन विस्मित विभ्रम !

मैं भी हूँ सखि, चिर कुमार सन्यासी,
निखिल जगत से न्यारा !
सूने मन में रहता हूँ निर्वासी,
किस जोगन का प्यारा !

इस निर्वासन से हूँ प्रतिपल जर्जर,
है असह्य यह ज्वाला,
मुझे बना लो अपना जीवन सहचर—
हे तपस्विनी बाला !

मूर्च्छालस तप से पुनीत कानन में
नित्य विह्वल झूमूँगा,
रक्तराग - रंजित गोधूलि - लगन में
तव पद - रज चूमूँगा ।

धरकर सखि, तव धूसर, गैरिक आँचर
नित्य - नित्य रोऊँगा ।
नील जलद की भस्ममयी शय्या पर
उदासीन सोऊँगा ।

सन्ध्या-तारक की कंपित किरणों में
अपना हिय खोलूँगा ।
नीरव वेदन कर अर्पण चरणों में
मैं न तनिक बोलूँगा ।

तव चिर अविजानित प्रेमिक के शव पर
हिम-गिरि-शिखर सगौरव
सजा सजाकर शुभ्र, श्वेत हिम-प्रस्तर
है समाधि-सम नीरव।
करती हो तुम उस समाधि को रंजित
अपनी करुण विभा से,
क्षणिक झलक उठता है क्रंदन पुंजित
इंद्रधनुष - शोभा से।
उस समाधि के हिम-शीतल पदतल में
अश्रु-सिक्त तव लोचन
देवदारु-छाया के श्यामाचल में
करते है जल-सेचन।
सज्जित करके चिर-विश्रान्त विजन में
सखि, तव वैधव - शय्या
तुम्हें रमाती है किस अमित भजन में
मृत्यु—तुम्हारी मैया ?
अस्ताचल के गलितानल अधर से
जलती है तव धूनी,
दीपित होती सध्या-तारक-कर से
कुटी तुम्हारी सूनी।
आदि-सृष्टि-धारा के पावन तट पर
तुम अलबेली जोगन
मौन ध्यान से निखिल विश्व का अतर
करती हो अवलोकन।

मृत्युलोक के मंगलमय निर्जन में
स्थापित तव पुण्याश्रम
हाय, जगाता है क्यों मेरे मन मे
निशिदिन विस्मित विभ्रम ।

मैं भी हूँ सखि, चिर कुमार सन्यासी,
निखिल जगत् से न्यारा !
सूने मन मे रहता हूँ निर्वासी,
किस जोगन का प्यारा !

इस निर्वासन से हूँ प्रतिपल जर्जर,
है असह्य यह ज्वाला,
मुझे बना लो अपना जीवन सहचर—
हे तपस्विनी बाला !

मूर्च्छालस तप से पुनीत कानन मे
नित्य विकल झूमूँगा,
रक्तराग - रंजित गोधूलि - लगन मे
तव पद - रज चूमूँगा ।

धरकर सखि, तव धूसर, गैरिक आँचर
नित्य - नित्य रोऊँगा ।
नील जलद की भस्ममयी शय्या पर
उदासीन सोऊँगा ।

सध्या-तारक की कंपित किरणों मे
अपना हिय खोलूँगा ।
नीरव वेदन कर अर्पण चरणों में
मैं न तनिक बोलूँगा ।

बद्ध वेदना का विस्फूर्जित गर्जन
उमड रहा है निष्फल,
मुक्त स्रोत से करने अश्रु - विसर्जन
हृदय हुआ है वेकल।

जाग जाग पडती है फिर-फिर रह-रह
मन में वह छवि लोनी,
अब भी हाय, सताती है क्यों अहरह
मृगतृष्णा अनहोनी ?

कहाँ आज है स्वप्नवती वह प्यारी,
विजनवती अलबेली ?
किस हिम-सागर के तट में सुकुमारी
होगी विकल अकेली ?

इस निर्झर के तट, शर-वन के ढिग मे
कितने ही दिन आकर
झलका करुण कपोत-कांति निज दृग मे
सुनती थी जल-मर्मर ।

कल-कल जल की अविरल गति से विह्वल
उसके विस्मित लोचन
फेन-वाष्प से भर जाते थे छल-छल,
रोते बिना प्रयोजन ।

कभी देखती आत, क्लांत तव सुषमा
हिमगिरि मे आलंबित,
देख-देखकर वह अनुपम हिम महिमा
रहती सभ्रम-स्तंभित ।

उसके नयनों में होती थी विंवित
श्यामकांति तव शीतल,
द्विविध साध्य-आभा से पुलक-प्रकंपित
हो जाता धरणीतल।
निभृत विजन में वह सुकुमार कुमारी
वन-कपोत-सी चचल—
मधु-सन्ध्या-सी लगती थी अति प्यारी,
शरत्-प्रात-सी उज्ज्वल।
करती थी नव निर्मल शारद-नभ में
शुभ्र अभ्र से क्रीडा,
लहराती थी देवदारु-सौरभ में
उसकी मुकुलित व्रीडा।
हिम-जल-सिक्त सुनिर्मल अरुणोदय में
हँसती विभ्रम झलका,
सजनि, तुम्हारे चिर-वियोग-आलय में
रोती आकुल-अलका।
फुल्ल कमल-वन में होती थी रंजित
हासमयी वह शोभा,
तरलित तारक-चय में होती सज्जित
अश्रु-माल मन-लोभा।
लीन हुई क्या तारों के कंपन में
वह मन-मोहन माया?
पाती है क्या सुधा चन्द्र-चुम्बन में
वह रजनी की छाया?

अथवा कल-कमनीय नवल हिम-राशी
अमल-धवल हिमधर की
सोख गयी क्या माया तरल विभा-सी
उस चचल निर्झर की ?
या स्वर्णाचल का वह पुण्य तपोवन,
प्रिय निर्वास तुम्हारा—
लगा उसे मन भावन, हृदय-लुभावन ?
मातृ-क्रोड-सम प्यारा ?
करती है क्या कभी तुम्हारे सँग मे
ज्ञात केलि, कल-कौतुक ?
अथवा मज्जित है विराग के रँग में
आँखें विस्मय-उत्सुक ?
मुझे छोडकर एकाकी, नि सगी
चिर-अनत तक जग मे
उडती है क्या वह निर्मुक्त विहगी
महामृत्यु के मग मे ?
कुज-कुज मे छोड गयी क्या वेदन !
सलिल-पुज में क्रदन,
पर्वत-पर्वत में क्या व्याकुल चेतन !
वन मे मर्मर-स्पदन !
श्वेतशीत की निशित, तीक्ष्ण धारा-सी,
अग्नि-समान अछूती—
विद्युत्-सी सदीप्त, तुषार-शिला-सी
थी वह पुण्य-विभूती ।

निखिल शून्य मे किस तारक-मडल के
खर - मध्याह्न - गगन मे
हिम-पुजित उसका कौमार्य पिघल के
लहरेगा यौवन मे ?

अविज्ञात किस सुदर, नूतन ग्रह मे
लोनी-सी वह लतिका
पुन खिलेगी मधु-सौरभ-सवह मे,
लालस - रस - उन्मदिका ?

पुन लसेगी क्या उसके नयनों मे
नव-ग्रह की छवि उज्ज्वल ?—
नव-विहान के मोहन तुहिन-कनों में
शरत्-शाति अति निर्मल ?

वह निरखेगी नवाकाश की रजनी
शोभित नव - शशि - कर से ?
विहरेगी उसके दृग मे तुम, सजनी,
नव हिम - शैल शिखर से ?

बैठेगी वह किस निर्झर के तट मे ?
किन कुसुमों के वन में ?
किसके सँग मे पाकर लाज प्रकट मे
पुलकित होगी मन मे ?

उस प्रपात का जल होगा ऐसा ही
फेनिल, स्वच्छ, सुशीतल ?
तरल, तीव्रगति, चचल, अविरल-वाही ?
शिलाघात से उच्छल ?

 । क्या ऋतु - परिवर्तन
उस ग्रह मे होग। के क्रम से ?
इसी नियम वसत करेंगे नर्तन
वर्षा, शरत्, विभ्रम से ?
ऐसे ही अथवा केवल चिर - वसत विहरेगा
ललित - लास - लावन से ?
या चिर - क्रदन का प्रवेग फुहरेगा
मोह-अध सावन से ?

स्निग्ध शरत् की छाया
या अनत तक विछी रहेगी ?
नभ मे नयनों - सी वह माया
उसके नीलिम अमित लहेगी ?
शोभा अथवा चिर - दिन वहाँ तुषार-भवन मे
हिम - बाला सोती है ?
उसकी नाई चिर - कौमार - शयन मे
हँस - हँसकर रोती है ?

लहराता है चिर - यौवन
उस ग्रह मे ह से तड़ित ?
सुख - आलर एक अखड तपोवन
अथवा केवल शदिन आक्रदित ?
है र्नि जीव वहाँ के है ऐसे ही व्याकुल—
कर्म - चक्र - विक्रीडित ?
मिट्टी है क्या हाय, वहाँ भी आकुल—
क्षुधा - तृषा से पीडित ?

क्या उनके निर्मित नन्दन में
चिरनव है शान्ति ?
दुर्दिन, उत्सवमयि वास में
है दूरी प्रवंचना ?

उन मधुर आँसू में मुस्काना
दिखलाती होगी ?
क्या हो मैं न विभोर, रम रहा
मुझे निज विसरी ?

कैसे पाऊँ इन प्रश्नों का उत्तर
मैं विकल अजानी ?
कभी लगा इस रहस्य का पथ
पाओ, मेरे ज्ञानी ?

रोता हूँ मैं हाय, भार निर्जन में
भटक रहा हूँ पग - पग,
घन - तमिस्र है शून्य हृदय - अगार में,
मुझे सुझाओ मारग ।

फरवरी, १९३२



सेविका

मेरे इस निर्जन-निकुञ्ज मे
आओ, आओ परदेसी।
नये सिकोरे मे शीतल जल
तुम पी जाओ परदेसी।

सरस, प्रफुल्ल कुसुम-स्तवकों को
आकर कर जाओ तुम घ्राण,
ओस व आँसू के जल कण से
सींचा है इनको दे प्राण।

मृदुल, मनोहर इन सुमनों के
सुमधुर-मधु का ले लो स्वाद,
कोमल, रुचिर, सुपल्लव युत हैं—
तोडो निर्दयता के साथ।

सरिता के इस निर्जन तट मे
करती थी अज्ञात-निवास,
अब तक हाय! किसी मानव का
पाया था न यहाँ आभास।

मधु-ऋतु मे अलि-कोकिल मेरा
जी बहलाते थे सब भाँति,
शरत्काल में मम मानस में
क्रीडा करती थी बक-पाँति।

सरिता के कल-कलित सलिल से
करती थी किल्लोल मैं प्रात,
विपुल पुलिन मे दोलन करती
आकुल कुन्तल शीतल वात।

सन्ध्या को वेतस-निकुञ्ज में
लेती थी मैं ठण्डी साँस,
स्तब्ध, स्निग्ध, विश्रान्त शान्ति से
होता था मन विरल उदास।

रजनी में निज कुञ्ज-भवन में
बैठी नित तारे गिनती,
किस अजान स्वर्गीय देव से
करती थी मन में विनती।

बकुल-माल का व्याकुल परिमल
करता था मुझको अलसित,
किस अपरिचित विलास से मेरा
मन हो जाता था उलसित।

अर्द्धरात्रि में लोरी गाकर
सोरी-सोरी सरित्-हिलोर
करती तन्द्रालसित निमीलित
मेरे लोलित-लोचन-कोर।

लोनी नवल कलित कलिका सी
खिली हुई थी मैं अज्ञात,
ऊषा-लालित ललित-लता सी
अरुण राग की थी सहजात।

सिक्त बेत सा फुल्ल-कास सा
रहता था नित मेरा मन,
सभी कुसुम-वन से प्यारा था
मुझे कण्टकित केतकि-वन।

चिन्ताहीन विकलता लेकर
अपने दिवस बिताती थी,
दुःख-रहित उत्सुकता मुझको
प्रतिपल हाय ! सताती थी।

मेरी इस स्थिति मे तुम आये
कहो कहाँ से परदेसी ?
विजन प्रान्त में क्यों पथ भूले,
भूखे प्यासे परदेसी !

आये हो तो आओ, बैठो,
रहो अनाहत परदेसी !
निर्जन शून्य कुञ्ज मे मेरे
स्वागत ! स्वागत ! परदेसी !

अञ्चल भर-भर सरस मृदुल फल
तुमको नित्य खिलाउँगी,
अपने नये सिकोरे मे जल
शीतल स्वच्छ पिलाउँगी।

कर्दम-मलिन, नलिन-कोमल पद
दूँगी मैं प्रति साँझ पखार,
सेवा तब दिन-रात करूँगी
नित नित अपना रूप निखार।

अश्रुहीन मम करुण नयन की
कोमल आभा अति सुकुमार
तुम्हें रुलायेगी परदेसी !
मच जायेगा हाहाकार।

किस सागर के पार तुम्हारा
घर है प्यारे परदेसी !
किस दुखिया के आँसू लेकर
यहाँ पधारे परदेसी !

किस मोती की माया तन पर
हुए कुसुम के लिये विकल ?
किस सुवास से आकुल होकर
घर से बाहर चले निकल ?

आओ, मेरे पवन-प्रदोलित
इन कुसुमों को करो दलित,
फिर से हाय इन्हें सींचेंगे
मधु उषा-करुणा विगलित ।

नये सिरे से हाय ! रचूँगी
यह अवलुण्ठित, गुञ्जित कुञ्ज,
फिर से मुखरित इसे करेगा
कोकिल-कुल चल-मधुकर-पुञ्ज ।

आओ, बैठो, थकित हुए हो,
पाँव पसारो परदेसी !
घर की तीखी करुण बेकली
तनिक बिसारो परदेसी !

आओ, आओ, सब दुख भूलो
हो तन्द्रानत परदेसी !
मेरे निर्जन, शून्य कुञ्ज में
स्वागत ! स्वागत ! परदेसी !

जुलाई, १९२७

प्रथम वर्षा

दो दिन पहले था श्मशानका तप्त भस्म बितराया,
नागन-सी फुफकार रही थी ज्वाला,
किस प्रलयङ्कर लीला से था नभमण्डल इतराया !
प्रकृति बनी थी संहारिणी, विकराला ।
आज हुआ मङ्गल अभिसेचन सघन घटामय नभसे,
द्रवित हुई है किसकी अभिनव करुणा !
गिरि-उपत्यका है आमोदित नन्दन-वन-सौरभसे,
नव-विवाह उत्सवसे कुसुमाभरणा ।
किस सञ्जीवन-रस-सिञ्चन-कृत सञ्चारित कम्पनसे
मुकुलित होकर पुलकित है यह धरणी,
भीनी-भीनी सरस सुरभिमय रभस-विभासित घनसे
हुई उच्छ्वसित आशा जीवन-मरणी ।
प्रथम-यौवना वनस्थली है नव-वेदन-उत्कण्ठित
लिए हाय ! निज कण्टककोर्ण प्रखरता,
क्षणिक दिखा यौवन फिर होती कुज्झटिका अवगुण्ठित
नव जल-कण से उसका रूप निखरता ।
झरझर रव से मुखरित निर्झर किस अनन्त मे जाकर
लय होने के लिये विकल बिललाया !
शोष शोषकर हरण करेगा निठुर कौन रत्नाकर
मुक्ता-सम उसके जल-कण की माया ?
कल-कल, किल, विताल विताडित उसकी गतिका यौवन,
फेनिल धारा कठिन शिला-सङ्घाता—

कम्पित करते है मम हिय मे प्रतिपल पुलक प्रलोभन,
अविरल रोदन क्या वेदन उसकाता !
नवल कुञ्जतल-वाही गद्गद् विह्वल पुञ्ज-सलिल से
उथल रही यह कैसी छल-छल भाषा !
महक उठी है जुही-सुवासित अलसित गन्धानिल से
किस के तप्त विरह की व्याकुल श्वासा !
मोर, पपीहा, झींगुर दादुर मिलित राग के स्वर से
गाते है सब ओर निराली लोरी,
झूम रही है निखिल प्रकृति मृदु-मद मधुर किस ज्वर से,
तन्द्रिल-रस से होकर बरबस भोरी !
सिहर-सिहर कर कानन मर्मर की थर-थर लहरी से
कहाँ बज रही किस रसिया की बंसी !
उडती है उत्सुक होकर मिलने किस तरुण परी से
सघन गगन मे दलबल लेकर हंसी !
अविज्ञात उल्लास विधुर हो प्रकृति बनी मदमाती,
पर बढती जाती है मेरी चिन्ता,
किस असीम के पार मुझे मम कौन प्रिया तरसाती !
मैं अनन्त के पल हूँ प्रति दिन गिनता ।
चिर विरही मुझ परदेसी की कौन दुखिनी नारी
मेरी आशा में बैठी है विमना ?
किस तीखी केतकी-कँटीली उत्कण्ठा से प्यारी
बाट जोहती होगी उत्सुक-नयना !
कितने युग से आशा करके होकर अकथित-चिन्ता
करती होगी वह निशि-दिन जल-मोचन,

अपनी स्मृति से भीता हरिणी-सी प्यारी अति चकिता—
सजल कर रही हैं मेरे भी लोचन।
मुझे ले चलो अपने संग, हे उन्मद हंस-बलाका!
चिदानन्दमय हे मानस-पथ-गामी!
निरखूँ फिर से रूप विमोहन प्यारी हिम-बाला का
मैं अतीत सुख स्वप्नों का अनुकामी।
वर्ष-वर्ष तुम वर्षा के उल्लास-जनित उत्सवसे
किस आशासे होकर पुलकित हर्षित
स्निग्ध स्नेहमय चिर प्रिय गृहकी ओर विकल कलरवसे
मत्त वेगसे होती हो आकर्षित!
करती रहती हो दर्शन नव वर्षोंमें प्रतिवत्सर
तुम उस चिर-अभिनूतन प्रियतम जग का,
भूल गया हूँ, पता नहीं पाता हूँ, पर मैं क्योंकर
चिर-परिचित उस माया मानस-मगका?

जून, १९२७



शकुन्तला

आज तजेगी शकुन्तला यह प्यारा पुण्य-तपोवन
हाय, सदाके लिये! बहो, हे होम-पवन! चिर-पावन!
तपस्वास से। हे मृग-शावक! लगता है क्यों तीता
सुमधुर दर्भांकुर? किस भयसे हुई मृगी, तुम भीता?

सखी माधवीलता! आज क्यों फुल्लश्री कुम्हलाई?
अंग-अंगमें, कली-कलीमें क्या व्याकुलता छाई?
कल्यालससे विरस हुइ क्यों? विधा हाय, क्या काँटा
चिर-प्रफुल्ल, नव-विकच हृदयमें? छाया क्या सन्नाटा
अलि-गुंजित, कल-कलित कुंजमें? सुरभि हुई क्यों फीकी?—
मदसे रहित? सखी, सूखी क्यों हियकी तरुण पिपासा?
प्रथम प्रातमें ही यौवनके नष्ट हुई क्यों आशा?
सखि, प्रियतमके प्रथम परसका हर्ष हुआ क्यों नीरस?
स्नेहलता प्रिय शकुन्तलाके ललित करोंका लालस
प्रतिदिन तुमको विधुर पुलकसे करता था विकलाकुल,
प्रियतमके भी स्नेह-स्पर्शसे था वह कितना मंजुल।
हाय, हुआ दुर्लभ वह स्पर्शन संमोहन, संजीवन,
आज हृदय है म्लान तुम्हारा विफल हुआ है यौवन।
निशिदिन उसको चिन्ता थी सखि, तुम्हें ग्रथित करनेकी
नव-रसालके प्रणय-पाशमें,— अपना जी भरनेको
सफल स्नेहके स्निग्ध हर्षसे। आज त्यागकर माया
विस्मृति-रजनीमें लय होगी वह सध्याकी छाया।
रोओ सखि, नीरव-निकुंजमें हिम-जल-कण कर सिंचन,
तव यौवनका मिथ्या मद सब आज हुआ है भंजन।

सखी मालिनी, वहन करो वन-वनमें कल-कल क्रंदन,
खा पछाड पर्वत-प्रस्तरपर। आज काटकर बंधन
चली जायगी तुम्हें छोडकर निठुरा बहन तुम्हारी,
कभी न लौटेगी अबसे भी अब आश्रममें प्यारी।

निज पेलव पद-पल्लव जब वह रखती थी तब जलमें—
मृदु-मृदु सिहर-सिहरकर—सखि, तब आकुल अन्तस्तलमें
उच्छल-उच्छल उठता था पुलक स्पन्दन। तब उसकी आशा
तुम अनंत तक वहन करो अब निज अतृप्त पिपासा।

सखि अनसूये! प्रियंवदे! घन अन्धकार क्यों छाया
आज चतुर्दिक्? किस क्षुधाग्निसे महाशून्य बौराया?
मृत्यु-दानवी नाच रही क्यों पृथ्वीकी छातीपर
अट्टहाससे? विश्व-नियम क्यों चूर्ण-विचूर्णित होकर
खंड खंड हो, बिखर-निखर नभ-मंडलमें छितराया?
अणु-अणुमें, कण-कणमें कातर वेदन क्यों कतराया?
सखि प्रियंवदे! अर्थहीन है सरल, मधुर नव जीवन
आज तुम्हारा, मृत्यु हुई है निर्विचित्र, निर्वेदन,
नीरस, निष्फल। हा अनसूये! वज्रशून्यकी दृढ़ता
जकड़े है वक्षस्थल आज तुम्हारा। कैसी जड़ता
आज तुम्हारे कोमल, सुनलित, चिर-निष्कटक मनमें
समा गई है! केवल प्यारी शकुन्तलाके सुखसे
तुम दोनों थीं सुखी सदा, उसके सुमधुर प्रिय मुखसे
सरस स्नेहकी, सरल लासकी सुन-सुन दो-दो बतियाँ,
चिर-प्रफुल्ल उल्लसित हृदयसे काट रही थी रतियाँ।
निज विकसित यौवनकी तृष्णा सखियो! कहाँ छिपाई?—
अन्तस्तलके किस कोनेमें? कहाँ छिपी सुखदाई
नित-नवीन जीवनकी आशा? अपना निजका जीवन
किया मिलित उसके जीवनसे, करके आत्म विसर्जन।

शकुन्तलाका हृदय-वेग था नस-नसमें सञ्चाहित
सजनि, तुम्हारे अणु-अणुमें सञ्चारित। हुई विवाहित
शकुन्तला,—तुम दोनोंके मन क्या उल्लास समाया!
मातृस्नेह या सखीभाव था?—वह थी कैसी माया?
आज चलेगी पति-गृहको वह, तुम दोनों हो बेकल,
भूल गई है सखियोंको, है निज पतिके हित पागल—
इस ईर्ष्याकी जलन तुम्हें क्या अति व्याकुल करती है?
हे सखियो! दुष्यन्त तुम्हारा निष्ठुर प्रतिस्पर्धी है
प्रेम-जगत्में। रोओ! बिलखो! अपना मस्तक पटको
भाग्यशिला पर, गहन शून्यमें छिन्न मेघ-सी भटको
चिर-अनन्त तक।

मात गौतमी, हृदय हुआ है विह्वल
किस दुर्दम आकुल करुणासे? आज हुआ है निष्फल
स्निग्ध, करुण तव मातृ-हृदय। अब विफल हुइ सब आशा।
सूख गइ है आज तुम्हारी चिर-सिञ्चित अभिलाषा।
जिस दिन तुमने देखा मुखडा सरस, सलोना, प्यारा,
प्रथम बार प्रिय शकुन्तलाका—स्तन्य-सुधा-रस-धारा
पुलकित स्तनसे उमड चली थी, हुई देवि! हिल्लोलित
रोम-रोमसे पुलक तरंगें, सुनकर कल कल्लोलित
निर्झर-सी कल-मुखरित भोली-भोली, तुतली भाषा,—
देख-देख सस्मित विलास फुलझडियाँ-सा, ज्योत्स्ना-सा—
उमडा हर्षित रुदन। आज चिर रुद्ध हुआ वह क्रन्दन,—
अन्तस्तलमें रह-रहकर करता है निष्फल गर्जन।

किस आशासे किया हाय, उस ललित लताको लालित
माता, तुमने सींच-सींच आत्माके रससे ? नित-नित
नव-प्रभातमें जगती थी तुम होकर उत्सुक चचल
किस प्रिय मुखके दर्शनके हित ? नित्य निशामें बेकल
सोती थी तुम लेकर किसकी चिन्ता ? हा ! सोचा था
युग-युगान्त तक प्यारी हियमें खेलेगी । पोंछा था
नित्य नयन-जल इस आशामें । थी मृगतृष्णा मनमें—
लहरावेगी चिरदिन रानी हियके नील गगनमें
ज्योत्स्ना-रंजित शुभ्र मेघ-सी, प्रतिपल वह फहरेगी
तरल-तरंगित धवल फेन सी, निर्झर-सी छहरेगी
झर-झर हास छटासे । माता, लीन हो गई पलमें
वह मरीचिका-माया । केवल सूने अन्तस्तलमें
भाँय-भाँय रव उपजाता है भय । शकुन्तला प्यारी
थी न किसीकी कभी, नही थी माता ! कभी तुम्हारी ।
अरुणोदयके विफल स्वप्न-सी आई थी वह जगमें,
लय होगी सन्ध्या-माया-सी ।

पिता कण्व ! रग-रगमें
आज तुम्हारे कैसी तीखी निष्ठुर व्यथा समाई !
लोल जलधिकी क्षुब्ध वेदना गहर-गहर गहराई
चिर-प्रशांत मानसमें क्योंकर ? महाकालकी लीला
तव दृढ आत्माके यत्रोंको करती है क्यों ढीला ?
सोचा था तुमने—जब होगी विदा शकुन्तला रानी,
दृढतासे आत्माके रसमें डूबोगे तुम ज्ञानी,

मोह-जाल सब खंडित होगा, छिन्न स्नेहका बंधन,
फिर अखंड विश्रांति-भासमें लय होगा हृत्-स्पंदन।
आज बिदा होती है जब वह यह उच्छ्वल, कल रोदन
विस्फूर्जित है किस कोनेसे ? हे ऋषिवर ! है झूठा
जप-तप, ध्यान तुम्हारा अब। किस निठुर दैवने लूटा
चिर-पूजित मन-मंदिर हाय तुम्हारा ! उसकी प्रतिमा
कौन लिए जाता है छीने ? गौरव-मंडित महिमा
आज नष्ट है उसकी। जिस अद्वैत शांतिकी ज्योती
भास रही थी हियमें, नित निःस्पंद भावसे सोती—
आज हुई जाती है लय, अब वृथा योग-साधन है।

हाय, तरुण तापसगण ! कैसे चित्त आज अनमन है ?
जिस आनन्दमयी प्रतिमाका करके निशिदिन चिन्तन
निखिल सच्चिदानन्द रूपका करते थे तुम दर्शन,
तरुण, करुण छाया जिस मुखकी प्रतिपल थी मँडराती
मनोगगनमें तुम लोगोंके, निशिदिन थी लहराती
होमानलमें सरल मधुर यौवनकी तरल शिखा-सी
स्निग्ध ज्योति,—वह आज हुई जाती है चिर-निर्वासी !
अब किसके हित तापस-व्रत है ?

रोओ करुण कपोती !

देखो, यह आश्रमकी प्यारी शकुन्तला है रोती
मौन भावसे। निपट विकल है वह भोली, अलबेली,
जगतदुलारी, उसके आँसू ढरक-ढरक पड़ते हैं
हरी दूबमें मुक्ताकण-सम। करुणाकुल करते हैं

पशु-पक्षी, तरु लता, सखी-जन, पिता, गौतमी माता
विकल स्नेहसे उसको। उससे सहा नही अब जाता
यह वियोग प्रियजनका। उसके दुख से दु खित होकर
सिसक-सिसककर रोओ तुम नव-आम्र-कुञ्जके ऊपर।
देखो धरणीमाता! प्यारी शकुन्तला जाती है
पति-गृहको, यह देखो, कैसी विह्वल बिललाती है
परम लाडिली, अलबेली आश्रमकी! उसके मगमे
अतिशय कोमल फूल बिछाओ, झरके निज रग-रगमे
सरस स्नेह-रस-धारा सिंचित। कुश-कटकसे प्यारी
नहीं रही अभ्यस्त कभी—त्रिभुवनकी परम दुलारी।
सन्ध्याबाला! देखो, आज तुम्हारी प्रिया सहेली
जाती है प्रियके मिलनेको। करती थी अठखेली
नित्य तुम्हारे सँगमे। आज हृदय उसका है चिन्तित,
किस शकासे वक्षस्थल है तीव्र वेगसे कम्पित।
निखिल शून्यकी भीति आज उसका हिय जकड रही है,
घोर तामसी निशा अभीसे उसको पकड रही है
निष्ठुर, काले हाथोंसे। सखि, डाल-डाल गलबैया
उसे रिझाना करके चुम्बन, बिछा स्वर्णकी शय्या
उसे सुलाना थपकी देकर स्निग्ध करोंसे अपने।
देखेगी तब स्निग्ध क्रोडमे जगमग-जगमग सपने
बाल्य-कालके। अभी-अभी तो थी वह निपट अयानी
सरल बालिका। खिली कली यौवनकी, फिर भी रानी
करती थी कुछ दिन पहले तक शैशवकी मृदु क्रीडा
अन्तस्तलके निभृत विजनमे। नव-यौवनकी व्रीडा

छू न गई थी उसको। हा दुष्यन्त! कहाँसे आये
चिर-प्रशान्त आश्रममें? अपने साथ कहाँसे लाये
नवोन्मत्त वैशाख मासकी प्रथम तामसी झटिका?
निर्मल, पुण्य तपोवनमें फैलाई क्या कुज्झटिका
विह्वल मोहकी? आग लगाई क्यों शीतल मृगवनमें?
नष्ट-भ्रष्ट है आज तपोवन, छिन्न-भिन्न जीवनमें
आश्रमवासी भटक रहे हैं, शकुन्तला है खिन्ना,
प्रेम-प्रपंची पतिकी स्मृतिमें है व्याकुल, उद्विग्ना।
दो दिनमें ही भूल गये क्यों, हे स्वारथ-रत राजन्?
हाय, सुकोमल ललित कलीमें करते थे अलि गुंजन,
तितली पंख बिछाकर उसपर करती थी नित छाया,
पुलकित करती थी प्रभातके प्रथम किरणकी माया
उसकी विकसित पंखडियोंको, हिम-कण करते मोचन
उसकी आर्त पिपासा, करके सरस सुधा-रस-सिंचन।
छिन्न कर दिया निष्ठुर करसे क्योंकर, झूठे प्रेमिक,
उस कोमल कलिकाको? हाय, बिखरकर आज चतुर्दिक्
तुच्छ धूलिमें म्लान पडी है उसकी सब पंखडियाँ!
निशादेवि! तुम उसके मगमें उल्काकी फुलझडियाँ
जला-जलाकर पथ सुझाना, तारोंकी दीपाली
सजा-सजाकर नभ-वितानमें, अपनी झलक निराली
दिखा-दिखाकर उसे रिझाना। घोर गहन अँधियारी
उसे निगलना चाह रही है, व्याकुल है वह प्यारी।
मृत्यु! दिखाओ उसको अपना रूप भुवन-मन मोहन—
साध्य अभ्र-मय अपने रंजित पर्वोंका अलोडन।

सन्ध्याके तारकसे टलमल, विह्वल विकल गगनमे
नील जलद-अंकित अजनसे शकुन्तलाके मनमे
वास करो सखि ! झींगुर-नूपुर-झंकृत व्याकुल महिमा
उसे सुनाओ । तजकर अपने दृप्त गर्वकी गरिमा,
उसके हियकी भीति मिटाओ, कर करुणा सञ्चारण
स्नेह-स्पर्शसे करलो उसको वक्षस्थलमे धारण ।

सखि शकुन्तले ! शंकित मनसे चलती हो क्यों धीरे ?
म्लान हुए क्यों आज तुम्हारे मानस-खनिके हीरे ?
अपने मनके गहन विपिनमे क्यों तुम भटक रही हो ?
किस द्विविधासे निखिल शून्यमे, प्यारी, लटक रही हो ?
आत्म-मानकी महिमा करके तुच्छ धूलिमे लुठित
आज चली हो उन्मन-सी तुम हो पग-पगमे कुंठित
वंचक पतिके मिलनेको । हे निखिल विश्वकी रानी !
सारे जगको अपनाकर तुम क्योंकर हुई बिरानी
हृदयहीन प्रेमिकके कारण ? त्यागो उसकी माया,
सबल करो मन, स्वस्थ करो अब श्रान्त-क्लान्त निज काया ।
तनिक करो विश्राम सजनि, इस सघन-कुंज-छायापर,
क्षणिक बिसारो चिन्ता सुनकर मृदु-मृदु पल्लव-मर्मर ।
स्मरण करो सखि, बाल्य-कालकी मधु-स्मृतियाँ सुखदाई ।

❀ ❀ ❀

आज तुम्हारे निकट हाय, क्यों मुझे बहा ले आई
महाकालकी उलटी धारा ? प्यारी, आओ, आओ !
शान्त, मगन-मन होकर मम नयनोंसे नयन लड़ाओ ।

देखो, आज हूँ अकेली, व्याकुल-मन, पियासी,—
वसन्त-तरंगित इसमें मम-मुक्ति-अभिलाषा।
दोनों निरानन्द हैं प्यारी, दोनों हैं चिन्ताकुल।
सुनकर करेगा आज निरादर पुन-गुंजरित मंजुल
नव-नव रस, जहाँ आशाएँ हम दोनोंके मनमें,
क्या उन्मादक गान गाएगा आकुल हृत्-कम्पनमें,
किस वितान-वाहित निष्कंटक स्वरमें।

देखो प्यारी,
लाया हूँ किस सुखका स्पन्दन, कंप-वेदना न्यारी।
किस हिल्लोलित लीलाका क्या फल-कटोलित ताडन
उद्वेलित है मम नयनोंमें! किस सुखका आलोडन
किस विज्ञानमयी लहरोंसे नग्न नृत्य करता है
निष्फल स्वप्नागमें मेरी। देखो, वह झरता है
लास-रंग-मय लीलाका बहुरंगी पागल निर्झर
मेरे मनमें—यन्त्र-विह्वल विक्षिप्त वेगसे मन्थर।
किस गगनान्तके दोलनसे क्षुब्ध प्रपीडित होकर,
नाना ज्ञान विविध भावोंका तीव्र मन्दन लेकर—
आया हूँ सखि, मैं जय करने गात, कम्पित तन मनको।
भूलो अब दुष्यन्त राजको, भूलो हाय मदनको।

हे विदेशिनी ललना! देखो कैसा नशा रंगा है
मेरी आँखोंमें! अति प्रज्वल क्या वेदन सुलगा है
मेरे गोरे-उजले मुखमें! उसे देखकर पलमें
राज-विरहसे व्यथित तुम्हारे कोमल अन्तस्तलमें

लहर उठी है देखो, कैसी विकल अपूर्व उमगें !
उछल पडी है आँखोंमें हिल्लोलित तरल तरगें।
आओ, प्यारी, आओ, मुझको अपने गले लगाओ,
निखिल विश्वका अन्तर्क्रन्दन हियमें आज जगाओ।
कहाँ प्रिये! दुष्यन्त-व्यथा अब ? कहाँ मदनकी ज्वाला ?
निखिलानन्दपूर्ण आत्माका खेल अपूर्व, निराला
खेलेंगे सखि, चलो, आज हम सीमाहीन गगनमें।
उडे चलेंगे महाशून्यके अतिविस्तृत अगनमें,
सध्याका बहुरजित पख पकडकर। सखि, भूलोगी
निर्मम निर्यातन निमेषमें, नित्य-निन्य भूलोगी
विश्व-प्रकृतिके राग-रगमय दोलनमें तुम रानी।
भूलूँगा आत्माभिमानका पीडन मैं अभिमानी।
होगा विस्मृत राजनीति, विज्ञान, ज्ञानका घर्षण—
लोलुप, सभ्य, स्वार्थ-लीलाका निष्ठुर भैरव हर्षण।
बह जावेंगे दोनों ज्योत्स्नाकी लहरोंके सँगमें,
रँग जावेंगे सध्याके सुमनोहर स्वर्णिम रँगमें।
दूर-दूर तारोंके हीरक-खचित रत्न-आसनपर
हो निर्द्वद्वासीन सुनेंगे निखिल चक्रका मर्मर।
उस उच्चासनसे देखेंगे जीवन-मरणी लीला,
घृणित कीट-सम मानव-गणकी पक-निमज्जन-क्रीडा।
युग-युगमें देखेंगे हम उत्थान-पतन देशोंका,
देखेंगे दोलन-सघर्षण दलितोंके क्लेशोंका,
दास-वृत्ति पतितोंकी, उन्मद, तुच्छ गर्व जेताका,
पशुओंकी पर-बुद्धि, घृणित, उद्धत स्वभाव नेताका—

देख-देखकर प्रिये ! हँसेंगे मद-मधुर गौरवसे
हम दोनों उस उच्च लोकसे। पङ्क-मथित रौरवसे
नीचे हमपर हुकारेंगे लक्ष्य-भ्रष्ट मानवगण।
उन्नत, निर्दय, कठिन हृदयसे हो उत्फुल्ल अकारण
बीच-बीचमें रुद्र नृत्यसे हम दोनों विलसेंगे
विश्व-मञ्चपर, निर्विकार, निष्कलुष नित्य हुलसेंगे।

हम दोनों सम्मिलित हुए है आज बहुत जन्मोंसे,
प्रिये ! आज निर्मुक्त हुए है चक्र-जडित कर्मोंसे।
लहरायगी आज हृदयकी गति कैसी मनमानी !
मैं विलसूँगा राजा होकर, तुम मेरी प्रिय रानी
शोभित होओगी मेरे सँग,—निखिल जगत्की वधू—
स्वच्छ, शुभ्र, चिर-मेघ-विमुक्ता, शरत्-कालकी संध्या।
कभी न तुम दुष्यन्त-प्रिया थी—स्वप्नमयी चिर-कविता—
कालिदासकी मानस-कन्या, मेरी प्यारी ललिता—
हृदय-राज्यकी महिमा-मडित रानी ! आओ, आओ !
अग-अगमे प्रिये ! ललित लावण्य-लास सरसाओ !
क्षुद्र स्नेह-दौर्बल्य त्यागकर पुण्य-प्रकाश-विभामें
विहरेंगे सखि, आज, विश्वकी अखिलानन्द-सभामें
आज विराजेंगे हम। मेरी विश्व-व्यापिनी तारा
दोनोंके हृदयोंमे सुमधुर सरस सुधा-रस-धारा
बरसावेगी अविरल। आओ, आओ ! प्यारी, आओ !
मेरे मनमे चिदानन्दकी विमलाभा झलकाओ।



मायावती

मैं रोती हूँ, मैं निशिदिन पलछिन रोती,
मेरी आँखों से निखरे पड़ते मोती।
मेरे आँसू है पद्मपत्र मे कम्पित,
कानन है मेरे अश्रु-ओस से सिञ्चित,
मम क्रन्दन से तारे हैं नभ में पुञ्जित,
मैं नयन-नीर से निखिल प्रकृति को धोती।
मैं तरल अश्रु से निशिदिन अविरल रोती॥

मुझको पावस की घन-घन-घटा रुलाती,
वह सजल उसास कहाँ से है नित लाती?
व्याकुल करती है नित मुझको घन-धारा,
रोती हूँ देख नदी का यौवन न्यारा,
उमड़ा पड़ता है आँसू का फव्वारा,
अविदित विषाद से भर जाती है छाती।
मुझको पावस की घन-घन-घटा रुलाती॥

मै देख शरत् की शान्त नीलिमा रोती,
मैं देख विजन की छवि नित आकुल होती।
करती है मुझको विकल बाँसुरी क्रन्दित,
सन्ध्या मानस मे करती आह तरङ्गित,
मैं विह्वल वीणा-सी हो करुणा-झङ्कृत,
नित-नित नूतन सुमनों में अश्रु सजोती।
मैं देख शरत् की शान्त नीलिमा रोती॥

मैं हँसती हूँ, मैं नित पगली सी हँसती,
मेरे मुख से फूलों की झड़ी बरसती।
पुलकित प्रभात सी रहती हूँ नित विधुरा
उत्फुल्ल कुसुम सी रहती हूँ मधु-मधुरा,
नव-अरुण-राग सी हूँ मैं मादक-अधरा,
मम हास देख हिम-बाला नित्य तरसती।
मे हँसती हूँ—मैं नित पगली-सी हँसती॥

हूँ शरच्चन्द्र सी उजियाली मे बाला,
हँसकर नित करती हूँ त्रिभुवन उजियाला।
द्युति-दीप्त दामिनी से मम हास दमकता,
अति प्रखर सूर्यकर से यह नित्य चमकता,
इसमें झलमल सन्ध्या का स्वर्ण झलकता,
अरुणोदय ने भी इसमें है रँग डाला।
हूँ शरच्चन्द्र सी उजियाली मैं बाला॥

मैं रोती हूँ, हँसती हूँ, हो मतवाली,
है सजल नयन मे छाई कान्ति निराली।
निर्झर-शीकर मे मम क्रन्दन फुहराता,
रवि किरणों में मम हास सदा लहराता,
सन्ध्या-सागर में अश्रुवेग महराता,
ऊषा में सजती हास-कुसुम की डाली।
मैं रोती हूँ, हँसती हूँ, हो मतवाली॥

मैं हूँ गम्भीरा, हूँ रसवती नवेली,
मैं हूँ कुहेलिका-सम अति कुटिल पहेली,
मैं विजन-वास में रहती हूँ अति रुदिता,
मैं रागरङ्ग से हो जाती हूँ मुदिता,
हूँ सन्ध्या-सम निलया प्रभात-सम उदिता,
रजनी की सजनी, सविता की अलबेली।
मैं हूँ गम्भीरा, हूँ रसवती नवेली॥

मैं महामहिम हूँ भुवनमोहिनी माया,
निज अश्रु-हास से निखिल जगत् बिरमाया,
है इन्द्रधनुष मेरी माया से अङ्कित,—
मम नयन-वाष्प से होकर नभ मे व्यञ्जित
मम तरल हास से होता है वह रञ्जित,
है धूप हँसाती मुझे, रुलाती छाया।
मैं महामहिम हूँ भुवनमोहिनी माया।

जून, १९२७



मृत्यु-मिलन

आज अमाकी रजनी
है निर्मल, अकलङ्कित,
मम चिर-प्रिय यह सजनी
है प्रसन्न, निःशङ्कित।

अर्द्धरात्रि आगत है,
निद्रा नहीं नयन में,
नीरव निखिल जगत् है
पुलकित अलस-शयनमे।
विश्वगीत - स्तम्भनमें
स्थिर है गौरव-गरिमा,
छायी गगनाङ्गनमें
अलख-निरञ्जन-महिमा।
नीचे मैं भूतलमे
नरकानल हूँ सहता,
ऊपर गहन अतलमे
पुण्य मरण-जल बहता।
आज तनिक तुम बोलो—
मृत्युदेवि! मम रानी!
निज घूंघट-पट खोलो—
निविड कृष्ण, असमानी।
झलकाकर अम्बरमें
मुक्तामय अवगुण्ठन
किया हाय, क्षणभरमे
त्रिभुवन-जन-मन लुण्ठन!
आज हृदय है पागल,
टूट पडा है बन्धन,
होकर मुक्त, अनर्गल
उमड पडा है क्रन्दन।

मर्म हुआ है खण्डित—
व्यग्र - वेदना चञ्चल,
मन है सखि, उत्कण्ठित
धरने को तव अञ्चल।

आज हुआ हूँ बेकल,
मुझे तनिक रोने दो!
शीत गात निज कोमल
छूने दो! छूने दो!

विरह विलय हो जावे
इस अभिसार-निशा में,
मिलन-पुलक अब छावे
सकल दिशा-विदिशा में।

सुमधुर विधुर अधरमें
लहरावे मृदु कम्पन,
थरथर-विकलित स्वरमें
झङ्कृत होवे चुम्बन।

अङ्ग अङ्गमें लय हो,
दृग सुनिमीलित दृगमें,
हृद्‌में लीन हृदय हो,
काल स्तब्ध हो दिगमें।

प्यारी, आज मिला है
मुझे निकटतम दर्शन,
हर्षण सहित खिला है
पुलक-प्रकम्पित स्पर्शन।

युग-युग-सिञ्चित आशा
हुई प्रफुल्ल, सपल्लव,
चिर-क्रन्दित मम भाषा
मन्त्र-मुग्ध है—नीरव !

कितने ही दिन देखा
रूप तुम्हारा मोहन,—
सस्मित सन्ध्या-रेखा,
बालारुण शुभ-शोभन ।

पूर्णिम निशिमें अमलिन
अनुपम छवि झलकाकर
आयी हो कितने दिन
इठलाकर बल खाकर ।

कितने दिन हो बिम्बित
खर मध्याह्न गगनमे—
किया मुझे सखि, स्तम्भित
उज्ज्वल प्रलय-लगनमे ।

किन्तु आज यह न्यारी
देखी कैसी माया !
मम व्याकुल हिय, प्यारी,
उच्छृङ्खल बिललाया !

पहन अग्निमय माला
प्रज्ज्वलतम तपनोंकी
लायी हो तुम बाला
फुलझड़ियाँ सपनोंकी ।

नयनोंमे झलकाया
यह क्या विश्व अनोखा !
मायाजाल बिछाया
अविज्ञानित भुवनोंका ।

मुझको ले जाओगी
किन रहस्य-कुञ्जोंमे ?
छलना छलकाओगी
किन तारक-पुञ्जोंमें ?

तब निस्तब्ध निलयमे
निर्निमेष नीरवता—
मेरे सब हृदयमे
छा देगी क्या कविता ?

पाप—ताप—ज्वालासे
करके मुक्त, विवर्जित
दिव्य अमल माला से
मुझे करोगी अर्चित ।

होगा लीन अतलमे
पङ्क-गलित रौरव-तल,
अनुभव होगा पलमे
पुण्य परश तब शीतल !

चिदानन्दकी माया
मुझे करेगी आकुल,
निखिल शान्तिकी छाया
भासित होगी मञ्जुल ।

आज विदा होता हूँ
हे प्यारे मानवगण !
अस्थिर हो रोता हूँ
हर्ष-शोकके कारण ।
मधु-स्मृतियोंकी झाँकी
करती मुझको उन्मद,—
करुणाभा ऊषाकी,
सन्ध्याकी छवि गद्गद ।
तुहिन-सिक्त धरणीका
अश्रु-गलित मुख उज्ज्वल—
स्नेह जता जननीका
कर देता है विह्वल ।
विदा धरित्री माता !
अबका अन्त-मिलन है,
युग-युग-ग्रन्थित नाता
होता आज स्खलन है ।
विदा सुचारु हिमालय !
विदा कलकलित सरिता !
विदा कुञ्ज ! गुञ्जनमय !
विदा वनानी हरिता !
विदा वासना सजनी !
आज पूर्ण है इच्छा,
विदा प्रिय सखी विजनी !
दो अब अन्तिम भिक्षा !

प्यारी परियो ! सब मिल
राग सुनाओ मङ्गल,
अन्तिम लोरी तन्द्रिल
गाओ अलस, सुकोमल !

कैसा मत्त निराला,
यह अपूर्व शुभ क्षण है !
हर्ष ! हर्षका प्याला
हुआ आज पूरण है !

दिसम्बर, १९३१



दमयन्ती

नीरव, सौरभ-स्निग्ध विपिन में
मृदु-अलसित लालस छाया,
इस गिरितट के खर शर-वन में
अन्धकार घन हो आया !

स्मित-विभ्रम से रञ्जित कर दिक्
पहने अरुण करुण सा वेश
सन्ध्या-बाला निज अञ्चल में
लाई क्या विलास-आवेश !

रजनीगन्धा निज सौरभ से
बनी उन्मना, आकुल-प्राण,
कैसे विंधा मर्म में उसके
कुसुमायुध का खर-तर बाण ?

वन-कपोत ने पहुँच नीड में
पकड़ा सुखद शान्ति का क्रोड,
इसी भी पर्वत में आई
किस सैकत की माया छोड़ ।

गिरि-उपत्यका किस मधु-रस से
हुई अलस, विह्वल, विश्रान्त ?
किस स्वप्न से हुई विमूर्च्छित
वनस्थली हो तन्द्रा-क्रान्त ।

थकित हुई हो तुम दमयन्ती !
जड़ित चकित सी हो विभ्रान्त,
खिन्न हुए पेलव पद-पल्लव—
चलते चलते हुआ दिनान्त,

नल ने भी त्यागा है, कल से
भटक रही हो एकाकी,
मुख में व्यञ्जित करुण झलक है
चिर-विषादमय रेखा की,

अतिशय कोमल छुईमुई-सी
हुई देह-लतिका बलहीन,
सोओ, सोओ, हो जाओ तुम
निखिल-निलय मे निपट-निलीन ।

तन्द्रालसित, निमीलित वन मे
सो लो, सो लो दमयन्ती !
सो जाओ तुम, फिर अनन्त तक
आँख न खोलो दमयन्ती !

निर्झर कल कल लोरी गाकर
अवश करेगा लोचन-कोर,
विमन पवन निज सरस परस से
पलक करेगी पुलक-विभोर ।

मन्द-प्रभञ्जन-दोलित शाखा
तुमको व्यजन डुलावेगी,
निष्ठुर, निलज, निदय निर्यातन
करुणा-सहित भुलावेगी ।

शीतल हिम-जल-कण-झालक से
विटप करेगा अश्रु निपात,
विहगी करुण विहाग-राग से
दुख रोवगी सारी रात ।

तारकगण कर निशा-जागरण,
भासित कर निज तरलालोक,
करुण करों से थपकी देंगे
स्तिमित नयन से तुम्हें विलोक ।

आँख मूँदते ही स्वप्नों का
बिछ जावेगा माया जाल,
उन स्वप्नों की सजल झलक से
पुलकित होकर रहो निहाल ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]।

[illegible]
[illegible]
जहाँ [illegible]
[illegible]

अतिथि, अमुक्त, अनाथ जनों की
सेवा मे नित हो तल्लीन,
करुणामयी अन्नपूर्णा-सी
राज रही थीं तुम स्वाधीन।

अपने ही रँग मे विभोर हो
थी तुम मदन-ताप से हीन,
हाय! अचानक मर्म सुकोमल
कैसे तव हो पडा विलीन ?

कैसे नल के मदनानल से
गलित हुआ तव कोमल प्राण ?
क्यों चिर-निर्दय पुरुष-जाति से
तुम भी नहीं पा सकी त्राण ?

❀ ❀ ❀

सोओ, सोओ, सब दुख भूलो,
अब न करो निज मर्म विभग्न,
तुम अनन्त तक पुलक स्वप्न के
फेनिल रस में रहो निमग्न।

मायापुर के इन्द्रजाल से
रचित इन्द्रधनु की माया—
फिर से रँग देगी अन्तस्तल
स्वप्नमयी रत्नच्छाया।

फिर से जाग पडेगा मन मे
बालकाल का कल-कल्लोल,
फिर से किलक उठेगी कल-कल
कौतुक-कौलित-केलि विलोल।

नव-यौवन का मदन-जनित ज्वर,
परिणतवय का चिन्तातप—
सभी विकारों से विमुक्त हो
भोगोगी उमङ्ग निष्पाप।

निर्वासिता सती सीता ने
जिस प्रकार होकर गतिहीन
नव-जीवन-यापन की ठानी
होकर वसुधा-गर्भ-विलीन,

तजी हाय! पुत्रों की माया,
छोड़ा हाय! राम का सङ्ग,
नये सिरे से रँगना चाहा
जीवन का नित-नूतन रङ्ग,—

उसी भाँति दमयन्ती! तुम भी
त्यागो, त्यागो नल का मोह,
हाय! नहीं तो तुमको शोषित
कर देगा यह असह विछोह।

नहीं चाहती हो यदि तुम इस
दुस्सह आतप से तपना,
सरस स्वप्न-माया से भर लो
गठित पुरा जीवन अपना।—

कभी उड़ोगी महाकाश में
राजहंस-सम पंख पसार,
कभी किसी निर्मल मानस में
कर लोगी जल-केलि विहार।

स्फटिक-सलिल-सिञ्चित सैकत में
कभी दलित कर स्वर्णिम रेणु,
मरकत-तुल्य नवीन बाँस की
करुणा बजाओगी मृदु वेणु।

सीता-वञ्चक कलित कनक-मृग
देगा नित्य तुम्हारा साथ,
करुणा, कान्त, कमनीय कपोती
चूमेगी तव कोमल हाथ।

मत्ता मातङ्गी सी नित-नित
नव-नव वन मे डोलोगी,
चपल नाग-कन्या सी प्रतिदिन
नव-रहस्य-पट खोलोगी।

हो जावेगा स्वप्न-स्पर्श से
लय यह काल विषादाच्छन्न,
महाकाल-गति में नाचोगी
नव-प्रसून सी विमल-प्रसन्न।

❀ ❀ ❀

हाय! नहीं तजती दमयन्ती
व्यथित वसुमती की ममता,
स्वप्नलोक की माया से भी
उसका हृदय नहीं रमता।

नल का वेश बनाकर भी जिन
देवों ने निज पद सुकुमार
कभी भूलकर भी धरणी पर
धारण किये न किसी प्रकार—

उन देवों को दमयन्ती ने
कभी नहीं चाहा वरना,—
यहीं जन्म लेकर दमयन्ती
यहीं चाहती है मरना।

नव-विवाह-उत्सव में उसके
हुआ दुःख-जल का अभिषेक,
हाय! हुई थी होमानल से
उत्थित दुःख-धूम्र की रेख।

वह मङ्गलमय दुःख हृदय में
परम रत्न सम कर धारण
करती जाती है दमयन्ती
सुकठिन नियमों का चारण।

किसी स्वप्न की माया से भी
इसे नहीं भूलेगी हाय!
कठिन वज्र को छिपा मर्म में
पड़ी हुई है वह मृतप्राय।

कौन जगावेगा? सोई है
जग की प्यारी दमयन्ती,
तीक्ष्ण बाण से विद्ध मृगी-सी
राजदुलारी दमयन्ती,

महारण्य में चिर-मूर्च्छित सी
यह अलबेली दमयन्ती,
बिलख बिलख कर विकल पड़ी है
निपट अकेली दमयन्ती।

मई, १९२७

नरक-निर्वासी

पड़ा हुआ हूँ उग्रगन्धमय घृणित, गलित रौरवमं,
स्वेद-क्लेदसे नित प्रप्लुत हूँ। निशिदिन हाहारवमं
बजती है मेरे कानोंमं आतङ्कित ध्वनि भीषण
किन प्रमत्त प्रेतोंकी। प्रतिपल होता है संघर्षण
कुष्ट रोगसे भ्रष्ट, शीर्ण, कङ्काल-शेष क्षीणाससे,
हीन, क्लिष्ट पुरुषोंसे। अहरह काम-प्रणोदित रणसे
जीव कौन ये मरण-मत्त हैं ?—ज्वर-जर्जर, उच्छृङ्खल।
हिंस्र-नेत्र हैं गह्वर-गत, हैं रक्तहीन मुख विह्वल,—
चण्ड क्षुधासे लम्बित जिह्वा है उनकी आलोलित,
रक्त-तृषासे ज्वलित, शुष्क इन्धन सम। तीव्र प्रदोलित
रुक्ष, विसर्पित जटा हाय, फुफ्कार रही नागन-सी
किस ज्वालामय पवन-वेगसे ? नितप्रति प्रलय मगन सी
रक्तनदी बहती है यह उत्तप्त वमादि-समाकुल।
तृप्त स्नान करते हैं उसमें कौन प्रेत-दानव-कुल ?
स्तूपीकृत हैं पुञ्ज-अस्थि पञ्जर प्रस्तर-पर्वत-सम,
उनके प्रति कोटरमें विषधर जीव घृणित कीटोपम
सर्पित, लोलित, पुञ्जीकृत है। वक्षस्थलमें मेरे
रक्तबीज-सम चिमटे हैं ये क्या कीटाणु घनेरे !—
चूस रहे हैं सत्त्व जुगुप्सित तृष्णासे। मैं थर-थर
लोमहर्षसे काँप रहा हूँ, विकट घृणासे जर्जर।
निखिल वायु-मण्डलमें कैसी पूतिगन्ध है बहती !
उसकी ज्वाला अहरह रहरह मेरा हिय है दहती

गन्धक-विगलित अग्नि-बाण-सी। कैसा सुकठिन शृङ्खल
जकड़े है मेरे पावोंको! मलिन भूमि अति पङ्किल
बनी हुई है शय्या मेरी। किन भौतिक स्वप्नोंका
भीषणतर पाषाण-भार यह कैसा सुदृढ, अनोखा
पडा हुआ है मेरे क्लान्त हृदयपर!

हाय, दुलारा
लुप्त हुआ मम स्वर्ग कहाँ वह निखिल जगतसे न्यारा?
कहाँ गया चिर-शान्ति मगन वह नगन गगनका अङ्गन—
सूर्यालोकित, चन्द्र-तारका-रञ्जित? प्रिय आलिङ्गन
प्यारी शरत्-कुमारीका क्यों हुआ स्वप्न-सम झूठा?
हिमगिरि-पुञ्जित साध्य स्वर्ण वह किस पिशाचने लूटा
मेरी मानस-खनिसे? अरुणोदयकी रक्तिम माया
रुधिर-रञ्जमे लीन हुई, गिरिवनकी श्यामल छाया
अन्ध मोह-गह्वरमे मग्न हुई, खर-धारा तीखी
तरल, तीव्र निर्झरकी सुकठिन, निर्मम खड्ग सरीखी
निज स्मृतिसे करती है प्रतिदिन मेरा मर्मच्छेदन।
साय-साय रवसे बजता है प्रतिपल कैसा वेदन
शिरा-शिरामें!

विपुल वासना-विकसित मेरा यौवन
भ्रष्ट योग-सम कहाँ हुआ क्षय? महत् चिरन्तन जीवन
चिर जडतासे स्तब्ध हुआ क्यों? हे मेरे प्रिय भाई!
निखिल रूप रस-गन्ध लुप्त कर क्या कुहेलिका छाई
अन्ध मनोमण्डलमे मम?

हे प्यारे मर्त्य निवासी
मानवगण ! प्रतिदिन तुमको कल-कोमल, करुण उदासी
करती है पुलकित, हिल्लोलित । प्रतिदिन नव-नव आशा
रञ्जित कर देती है विगलित हियकी तरल पिपासा
किन विचित्र रङ्गोंसे ! नित-नित नूतन सुख-दुख-लीला
इन्द्र-धनुष-सम रँग देती है गगन तुम्हारा नीला ।
मृदु कलरवसे करते हैं शिशु घर-घरमें कल-क्रीडा,
नव-मुकुलित लतिका-सम व्याकुल नवल-वधूकी व्रीडा
देख-देखकर होते हो तुम हर्षित । प्यारी तरुणी,
अलवेली करती है पागल तुमको,—जग-मन हरणी
नव-नव रागमयी मायासे । मातृ-स्तन्य-रस-धारा
उमड-उमड गद्गद करती है शिशुका हृदय दुलारा ।
अक्षय जीवन देती तुमको माताकी मृदु ममता ।
किन्तु हाय, छाई मम हियमें यह क्या कुटिल विषमता !
प्यारो ! जब हेमन्त अन्तकर नव-वसन्त इतराता,
विकल कण्ठसे कल कोकिल तब पुलक विधुर हो गाता
अरुणोदयमें तुम लोगोंके अङ्गनमें, अलि-गुञ्जन
व्याकुल तान-सहित करता है मानवती-मन भञ्जन,
मृदुल-मञ्जरी माधविका तब दिन-प्रति दिन है चढती,
नव-रसालको प्रेम-पाशमें वह सोल्लास जकडती
सरस स्नेह-रससे सरसाकर । ऐसे ही नव-वर्षा
सिञ्चन करती है करुणा-जल, निखिल जगत्-मन हर्षा,—
फैला तुम लोगोंके तप्त गृहोंमें शीतल छाया—
विस्तारित करता है घन आषाढ-मेघ क्या माया

हाय, तुम्हारे विस्मित, उत्सुक नयनोंमे ! शारदाभा
धरणीके कण-कणमे ला देती है कैसी शोभा !
अणु-अणुमे सञ्चारित करती है क्या पुण्य सुशीतल !
स्वर्ण-वर्णसे रंग जाता है पावनतम जगतीतल ।
हाय, किन्तु अच्छेद्य वज्रकी दारुण अविचल जड़ता
जकड़े है मम हृदय, भीम पाषाण-भारकी दृढता
प्रबल भूत-सी दबा रही है मुझको । विकल पड़ा हूँ
स्रोतहीन इस पङ्क-कुण्डमे, होकर बद्ध सड़ा हूँ ।
स्तर-स्तरमे दुस्तर प्रस्तर हैं इस गह्वरके ऊपर,
कैसे इनको लङ्घन करके आ सकता हूँ भूपर—
मुक्तालोकित पवन-राज्यमें ?

मुझे बता दो भाई !
कब तक यह स्थिति अटल रहेगी अति निर्मम, दुखदाई ?
कौन उबारेगा मुझको इस वज्र-कठिन बन्धनसे ?
अचल शक्ति क्या विचलित होगी मम विदीर्ण क्रन्दनसे ?
चिर-अनन्त तक क्या मै इस रौरवमे सड़ा रहूँगा ?
कब तक, कितने युग तक दुस्सह ज्वाला नित्य सहूँगा ?
किन पुञ्जित पापोंसे करके भार-ग्रस्त यह काया
कौन शक्ति है जिसने मुझको इस दृढतासे बाधा
महाकाल तक ?

हृदय ! उठो अब, आज मचेगा ताण्डव,
रोम-रोमसे हुकृत होवे महा-गान अति भैरव ।
हे उन्माद ! करो निज मदसे निखिल नियम परिवर्तन ।
विश्व-प्रकृतिको विचकित करके निपट नग्नतम नर्तन

आज दिखा दो। फिरसे खोजो स्वप्न-स्वर्ग वह प्यारा—
वर्षा, शरत्, वसन्त-आकुलित अभिनव भुवन दुलारा।
बद्ध वेदना उमड उठे अब, सुप्त स्फूर्ति हो स्पन्दित
नव-चेतनसे, क्रन्दित होवे तन्द्रित आशा स्तम्भित।
विफल वासना व्याकुल होकर पुलकित होवे पलमें
नवोल्लाससे, सचल प्रकृति हो वाहित अखिल अचलमें।
दिनपर दिन बीता जाता है, कब तक धैर्य रहेगा?
इस असीम स्तम्भनकी जडता कैसे हृदय सहेगा
जन्म-जन्म तक? निठुर दैवसे अब संग्राम छिडेगा,
बद्ध हृदय मम अन्ध शक्तिसे हो निर्द्वन्द्व भिडेगा।

जनवरी, १९३१



नवीना माता

नवल लास से विलसित शिशु-मुख चूमो माता, चूमो।
तरल सुधाके मधुर मोहमय अविरल रस से झूमो!
गद्गद् थरथर हर्षण बलबल नयनों में है छलका,
स्नेह-गलित नव वेदन सुललित स्वेदकणों में झलका।
हिय के अगम अतल से कैसे पाया माँ! यह मोती?
हिम-सागर की कौन परी इस निधि कारण है रोती—
निशि दिन कप रुदन से? कैसे उससे तुमने छीना
निष्कलक हीरक यह? हो तुम अखिलानद विलीना—

देख-देखकर शोभा माता ! नव-नीहार-पतन-सी—
कलित कांति कमनीय ललन की चिर अनमोल रतन-सी ।
नव-वसंत के मृदु हिलोल से हो विलोल, उच्छृंखल,
तुम यौवन के गहन विजन में भटक रही थीं चंचल,
मलय-व्यजन से गंध-विधुर हो लावनमयी चमेली
लुब्ध लवंगी से करती थी लाजहीन अठखेली,
तुम भी उनके सँग में हिलमिल थीं उन्मद-रस-आकुल,
करती थीं तुम सब सखियों मिल सुरभि-रभस से व्याकुल
मायाच्छन्न विपिन को ।

सहसा हुआ शरत् का आगम
बिन वर्षा के । पक्व शस्य से लहराया क्या विभ्रम
धरणी के हृत्तल में ! प्रस्तुत सरिता-सीमांतर में
शुभ्र काशवन हुआ प्रफुल्लित । पुलक विकल निर्झर में
किलक उठा कल-क्रंदन । पल में स्तब्ध हुआ पिक-कूजन,
कंपित, क्लांत कपोत-कंठ से करुणालास-रस-सिञ्चन
हुआ विजन में । देखा तुमने हृदय-गगन जन अपना—
झूम रहा था स्निग्ध सांध्य-छाया में सुमधुर सपना,—
स्वच्छ नीलिमा में सोया था अलसित वेदन न्यारा,
पाया तुमने विह्वल हिय से उज्ज्वल संध्या-तारा ।



मधुवन का माली

निज छिन्न माल की डोरी
मैं लिए चला जाता था, गाकर
अलस - पुलक - मृदु लोरी।
वह थी नीरव निर्वचना,
थी अलसित - विकसित - नयना,
वह मौन-मूढ लेटी थी सजकर
उत्सुक वासक - शयना,
वह झाँक रही थी बाहर को किस
विकल भूल से भोरी।
किस शशि की नवल चकोरी।
था एकाकी नि सङ्गी,—
छवि दिखलाता था विमल जलद निज
नभ मे रङ्ग - निरङ्गी।
थी प्रकृति शान्ति में मग्ना,
थी सन्ध्या निर्लज्ज - नग्ना,
कल उत्कण्ठा से उत्सुक होकर
गाती थी उद्विग्ना—
किस नवल-प्रात की आशा से उड
सागर - पार विहङ्गी।
बज उठी हृदय - सारङ्गी।
मैं लगा बजाने वशी,

वह किलक उठी हो पुलक-प्रकम्पित
आकुल वेतस-वन सी।
तब छाया था अँधियारा,
था वहा रहा नव-तारा
जिस जनम-मरण के निखिल-स्फुरण से
करुणा-किरण की धारा!
वह हुई विपुल के लिये तरङ्गित
वंशी के कम्पन सी,—
किस मानस की कल-हंसी!
में चला निराश उदासी,
मैं छोड़ गया पीछे से अपने
आँखें बेकल प्यासी।
वह व्याकुल विवश पिपासा,
मृदु पुलक-उच्छ्वसित आशा,
वह सजल-नयन इङ्गित, अति नीरव,
सुरभि-सुवासित भाषा—
थीं करती आकुल मुग्ध हृदय मम,
था रस-लुब्ध विलासी—
मै निजन - निलय - निवासी।
थी मेरी चाल निराली,
थी मदभोली आँखों मे मेरी
छाई लालस-लाली।
मैं चलता था मदझूमा,
या वन-उपवन मे घूमा,

किस उजल नयन के सजल लाज ने
मेरा मुँह था चूमा।
हो विरल-विधुर या अथिर थिरकता
पी मधु-रस की प्याली—
किस मधु-वन का मैं माली।
हूँ विजनवती का प्यारा,
मैं भूला फिरता हूँ भटका नित
वन में राजदुलारा।
किस घर की व्याकुल याती
है मुझको नित्य रुलाती!
पर विजन-विधुकी शान्त क्लान्त छवि
जकड़े है मम छाती।
नित बहा रहा हूँ मदविह्वल हो
अविरल दृग-जल-धारा,—
मैं किस वेदन का मारा।

जून, १९२५



उसकी स्मृति में–

जिस दिन मैंने पहले उसको देखा था बचपनमे,
मुखमें क्या स्वर्गीय प्रभा थी, विकसित ज्योति नयन मे !
क्या सकरुण, सुकुमार वेदना मुखमे झलक रही थी !
कैसी विह्वल व्याकुलता आँखोंमे छलक रही थी !
भोली-भाली, सरस, सलोनी छवि मेरे मन भाई,
किस विषादकी श्यामल छाया शुष्क हृदयमे छाई !
मैंने सोचा—किस माताकी है यह परम दुलारी,
किस भैया की बहन लाडिली, किस दीदीकी प्यारी ?
चिर-परिचित-सी लगी मुझे क्यों पहले ही दर्शनसे ?
सरस स्नेह उमडा रग-रगमे हाय ! प्रथम स्पर्शनसे ।
हाथ थामकर उसका मैंने पूछा नाम दुलारा,
मन्द-मन्द मुसका कर बोली—"मै हूँ प्यारी तारा ।"
मैंने पूछा—"किस माताके नैनोंकी हो तारा ?"
करुणा-विह्वल, छलछल दृगसे उमड चली जल-धारा ।
हाय, निखिल जगमे न कही थी जीवित उसकी मैया,
दीदी भी न कहीं थी कोई, प्यारी बहन न भैया ।
उदासीन थे पिता, निष्ठुरा थी उसकी प्रिया मौसी,
जो प्रिय वचन सुनाती कहकर–"हतभागी, मुहझौसी !"
निखिल विश्वके किस कोनेमें थी वह निपट अकेली ?
निभृत विजनमे कहाँ स्फुटित थी वह लतिका अलबेली ?
अपने ही अन्तरके रससे वह दिन दिन बढती थी,
स्वप्न-जगत्में हँस-हँसकर वह फिर रो-रो पडती थी ।

हाय, एक ही दिनमें मुझसे कैसा नाता जोड़ा !
व्याकुल हियसे मुझे जकड़कर पल-भर साथ न छोड़ा ।
मुझे विकल करती थी निशिदिन उत्सुक प्यारी आँखें,
डबडब रससे भरी हुई वे नींबूकी-सी फाँकें ।
तरल भास था कैसा उनका, कैसा था आकर्षण !
देख-देख होता था मेरे रोम-रोममें हर्षण ।
मुग्ध दृष्टिसे निरख-निरख वह मुखड़ा सहज सलोना,
समझ गया मैं, मुझको सारे जीवन-भर है रोना ।
कभी खेलती वह निर्जनमें कैसा खेल निराला !
कभी गूथती थी उपवनमें कलित केतकी-माला ।
कभी मिलैयाको वह अपनी लेकर गोद सुलाती,
करके प्यार, दुलार उसे तत्काल बिसर-सी जाती ।
उसे याद आ जाती थी तब अपनी प्यारी मैना,
जा पिंजड़ेके पास स्नेहसे कहती—"आ जा, मैना !"
पिंजड़ेपर निज कोमल अधरोंको करती थी स्थापन,
रक्तचंचुसे मैना उनको कर देती थी चुम्बन ।
विकल पुलकसे किलक-किलककर बजा-बजाकर ताली,
स्नेह-सहित अपनी बहनाको देती थी वह गाली ।
मैना कहती—"तारा, तू मर जा !" वह हँस पड़ती थी,
बहनाकी प्यारी गालीसे वह न कभी चिढ़ती थी ।
इस प्रकार निज तृषित हृदयकी ज्वाला हाय ! बुझाती,
स्वयं सृजनकर स्नेह-जगत् निज, मन अपना समझाती ।
हाय, दुलारी मैना ! कैसी सफल हुई वह बानी !
कहाँ आज तुम, हाय, कहाँ है मेरी तारा रानी !

सध्याको वह मेरे सगमे विपिन-भ्रमणको जाती,
निरख-निरख छवि शान्त प्रकृतिकी अपना मन बहलाती।
निरुद्देश्य फिरते थे दोनों पर्वतके वन-वनमे,
क्या उल्लास झलकता मुखमें, क्या आशा थी मनमे!
किस प्रवेगसे उसे खींचता था सन्ध्याका तारा!
उसके विस्मित नयनोंको लगता था कैसा प्यारा!
उसे देखकर फिर वह आँखें नहीं फिरा सकती थी,
हेर-हेरकर उसकी शोभा वह न कभी थकती थी।
सम्भव है क्या—वह था उसके पूर्व-जन्मका साथी?
वह था सखा दुलारा, तारा उसकी परम प्रिया थी?
छीन ले गया मुझसे उसको क्या ईर्षाके कारण?
वक्षस्थलमे किये हुए है आज उसे क्या धारण?
चूमो, चूमो सध्या-तारा! करो उसे आलिंगन,
स्निग्ध करोंसे कर दो उसके अश्रुकणोंको मोचन।
उसे रिझाओ, किन्तु बढाओ मेरे हियकी ज्वाला,
उसे पिलाओ सुधा, मुझे दो हालाहलका प्याला।
सरिताके ढिग जाकर दोनों करते थे जल-क्रीडा,
कलकल जलसे हमें रुलाती लहरी लोल अधीरा।
दूर पहाडी खेतोंसे मुरलीकी तान सुरीली,
बीच बीचमे *बज उठती थी कैसी करुण, रसीली!*
कभी निठुर हम मत्स्य पकडते लिए कँटीली वशी,
निर्निमेष रहते, जब जलमे कभी तैरती हसी।
कभी बैठकर वेत्र-लताकी सघन कुज छायापर,
सन्न हृदयसे सुनते थे हम सुरुचिर पल्लव-मर्मर!

काश-गुच्छको बाँध-बाँधकर निज कुंचित कुन्तलमें
वहीं लेट जाती सिर रखकर वह मेरे पग्तलमें।
वहाँ सुनाता था मैं उसको कोई करुण कहानी,
उत्सुक हो, एकाग्रचित्तसे सुनती मेरी रानी।
जब श्मशानके निकट अकारण जाते शिवके मन्दिर,
शुष्कजटा सन्यस्ता देवी दर्शन देती अन्दर।
दोनोंके मस्तकमें वह क्या ज्वलित भभूत लगाती,
मायामय आशीर्वादसे क्या उल्लास जगाती!
काश-कुसुम करमें लेकर तारा करती थी अर्चन,
रोम-रोममें भक्ति-हर्षका हो जाता था सर्जन।
उल्कापात कभी जब होता, वह होती हर्षाकुल,
लगती थी आनन्द-बाण-सी उसकी रेखा मञ्जुल।
एक वर्ष जब धूमकेतु था शोभित हुआ गगनमें,
दमक उठा उल्लास अलौकिक उसके दीप्त नयनमें।
किस अनंगका बाण मनोहर हुआ शून्यमें सज्जित!
देख-देखकर उसको तारा हुई पुलकसे लज्जित।
भूल गई वह आकुल वेदन, भूल गई वह रोना,
अशन-वसनकी चिन्ता भूली, भूल गई वह सोना।
लगा उसे वह मस्त तान सा, चिर-उन्माद-स्वपन-सा,
भाग्य-गगनमें भूला-भटका अस्थिर, अचिर तपन सा।
भ्राम्यमाण निज जीवनकी क्या देखी उसमें छाया?
धूमकेतु-सी लीन हुई क्या क्षणिक-प्रभा वह माया?
नव-नव रुचिर कुसुम-चय लेकर, गूँथ-गूँथकर माला
पहनाता था उसको प्यारा नव-वसंत मतवाला,

घृणा-सहित उस मालाको निज पैरोंतले कुचलकर
नष्ट-भ्रष्ट कर देती थी वह हियमें मचल-मचलकर।
शरत्-देवकी अमल-धवल नव-कान्ति भुवन-मन-मोहन
उसका चित्त हरण करती थी बनकर रुचिर, सुशोभन।
हिम-ऋतुकी जब चन्द्रकान्त-निभ आभा स्वच्छ, सुशीतल
हिम-निपातसे कर देती थी उज्ज्वल यह धरणीतल—
परिस्तानकी तब वह माया उसका हृदय लुभाती,
उसे सुनाती हिमकी परियाँ क्या संगीत प्रभाती!
जब निहार नीहार-विपिनकी कल-कमनीय हिमानी
हो जाता था विनमित, अवनत मन उसका अभिमानी,—
विगलित होकर तब वह कहती—"यही जगत् है मेरा!
इसी जगत्के निभृत नीडमें लूँगी हाय, बसेरा।
यही स्वप्न है मेरो, भैया, इसी अप्सरालय मे
कठिन जगत्से हो विमुक्त अब हुआ चाहती लय मैं।"
श्वेत-कुसुम-सम हिम-स्फुलिंगकी जब होती थी वर्षा,
नाच-नाच उठती थी तब वह मुझको तरसा-तरसा।
शुभ्र तुषार-स्फटिक-कण-सा था चिर-कुमार उसका मन,
हुआ उसीके सँग विलीन क्या पकड हिमानी-दामन?
मेरी रानी स्वप्न-जगत्मे हुई निसशय, निर्भय,
हिम-मंडित हेमन्त-कला सी दिन-दिन अधिक प्रभामय।
स्थिर न रहा पर अधिक काल तक स्वप्न-भवन सुमनोहर,
निठुर चक्रके ताडनसे वह हुआ चूर धरणीपर।
जकड लिया जगने उसको मिथ्या समाज-बन्धनसे,
बिछुडी मुझसे मेरी प्यारी करुण, आर्त-क्रन्दनसे।

सास-ससुर-पतिका शासन, गार्हस्थ्य-चक्रका पीडन
क्षोभित करने लगा उसे वह पाप-ताप-आलोडन।
हिम-सघात-शिला-सी बनकर कठिन-हृदय, निर्मोही
बन्धनसे हो क्षुब्ध-प्राण वह बनी विकट विद्रोही।
लगी छटपटाने वह विहगी चिर-मुक्ता निर्लिप्ता,
विगलित होने लगी हिमानी-सी सविता-कर-तप्ता।
पुन स्वप्नमय हुई हाय, वह हो अनन्त-निद्रारत,
चिर-कुमारताकी वह महिमा रहा अखड अनाहत।
चिता जली थी उसकी प्यारो! निर्विकार, निर्धूमा,
मैंने उस अन्तिम आभाको झूम-झूमकर चूमा।
शाप-शोप वह हरण कर गई निखिल प्रकृतिकी माया,
स्तब्ध शून्यमे स्तम्भित होकर मैं व्याकुल बौराया।
आज यही है केवल प्यारो! मेरा करुण निवदन—
जीवन-भर निर्धूम ज्योतिसे जले हाय! मम वेदन,
हाय! न फिरन पावे मेरी इस आशापर पानी—
गहन मृत्युके सघन कुजमे मुझे मिलेगी रानी।

एप्रिल, १९३१

